"मानस की मणियाँ"

लेखक :

रामजी शास्त्री

साहित्य-व्याकरणाचार्य

प्रकाशक :
रामजी शास्त्री
साहित्य-व्याकरणाचार्य

प्राप्ति स्थान :
डा० कैलाशचन्द्र सक्सेना
सत्संग स्थल
मनकामेश्वर नगर
लखनऊ
पिन-२२६००७

मुद्रक :
उमाशंकर मिश्र
श्रीशंकर प्रेस
३६-३७, खत्रयाना
झाँसी
पिन-२८४००२

द्वितीय संस्करण
२२००

मूल्य ७-५० पैसे
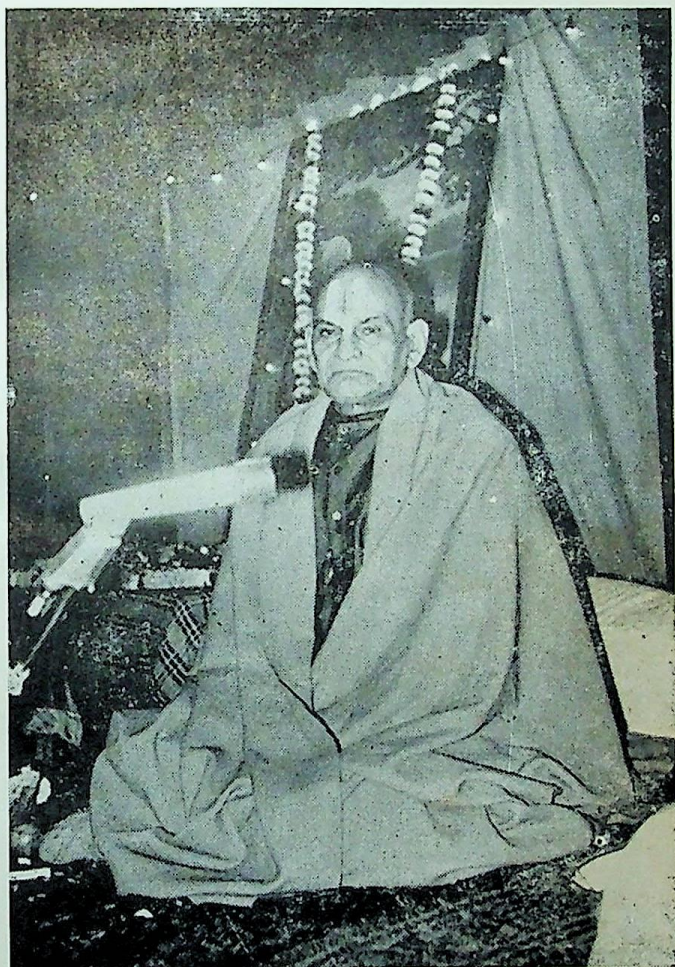
चैत्र नवरात्र
संम्वत् २०४०

अनन्त श्री पूज्य बाबा रामदास जी महाराज

प्रकाशक :

रामजी शास्त्री

साहित्य-व्याकरणाचार्य

प्राप्ति स्थान :

डा० कैलाशचन्द्र सक्सेना

सत्संग स्थल

मनकामेश्वर नगर

लखनऊ

पिन-२२६००७

मुद्रक :

उमाशंकर मिश्र

श्रीशंकर प्रेस

३६-३७, खत्रयाना

झाँसी

पिन-२८४००२

द्वितीय संस्करण
२२००

मूल्य ७-५० पैसे

चैत्र नवरात्र
संम्वत् २०४०

अनन्त श्री पूज्य बाबा रामदास जी महाराज

समर्पण

जिनका परिचय, मेरे जीवन-वन का वसन्त है, जिनका सामीप्य, उसमें सुमनों का हास है, सत्प्रेरणा, सौरभ-संचार, आस्था का स्थैर्य फल और जिनके द्वारा मानस-माधुरी का दान ही फलास्वाद है।

धीरता जिनका राज सिंहासन है, जिनके मस्तक पर छत्र है सहनशीलता जिनकी राजाज्ञा है करुणा और जिनका उद्देश्य है, सन्त पद्धति से सन्त शेखर गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' द्वारा जनमानस में राम राज्य का उदय।

जिनकी वाणी, घनघटा बनकर मानस की मर्मस्पर्शी पीयूषधारा वर्षण करती है जिन्होंने अनेक मानस-सम्मेलनों को जन्म दिया पोषण और संचालन दिया, उन उदार चरित अर्चनीय चरण श्री गुरुवर्य (अनन्त श्री पूज्य बाबा रामदास जी महाराज) के वरद-हस्तों में द्वितीय संस्करण "मानस की मणियाँ" सादर समर्पित।

—रामजी शास्त्री

किन्तु परिणाम स्पष्ट है, मन्थरा का कूबर टूटेगा, ताड़का ताड़ित होगी, और शूर्पणखा अपने नाक-कान कटाकर अपने हिमायतियों का बेड़ा गर्क करेगी, सागर पार के विलासी कुविचार रावणत्व का पुतला जलकर राख होकर ही रहेगा, अस्तु ।

इस बार इस द्वितीय संस्करण को झाँसी से निकालने में सबसे बड़ा हाथ मेरे प्रिय शिष्य पं० सुरेशचन्द्र शास्त्री, मानस मयंक, निवासी ग्राम-तरीचर कलां-निवाड़ी (टीकमगढ़) म० प्र० का है। वह मानस के उदीयमान अध्येता हैं, चिन्तनशील प्रवचन कर्त्ता हैं। उन्हीं की सदिच्छा एवं सत्प्रयास के फलस्वरूप झाँसी के एक पुराने अनुभवी, मुद्रण कला में प्रवीण, उत्तरदायित्व में सजग, भक्त-हृदय पं० उमाशंकर मिश्र से परिचय हुआ, उन्हीं ने इसके पुनः संस्करण का भार अपने ऊपर लिया, और तदनुरूप ही इस कार्य को समय पर सम्पन्न किया, तदर्थ वो बधाई के पात्र हैं, मैं इन दोनों महानुभावों का हृदय से आभारी हूं।

राम भक्तों का वशंशद :

—रामजी शास्त्री

लेखक

विषय - सूची

श्री मन्मानस राम तन

शंका

श्रीमन्मानस रामायण को 'राम तन' क्यों कहा गया है ? बालकांड 'प्रभु चरण,' अयोध्या 'कटि' आदि बताये गये, इन कांडों को अंग-प्रत्यङ्ग बताने में क्या कोई रहस्य है ? क्या इन बातों का प्रतिपादन गोस्वामी जी के किन्हीं शब्दों से होता है ?

समाधान

श्रीमन्मानस रामायण को 'राम तन' क्यों कहा, यह प्रश्न होते ही 'राम तन' कहने वाले की ओर अनायास ही दृष्टि जाती है। संसार में जो लक्ष्योन्मुख साधक हैं, लक्ष्य प्राप्त सिद्ध हैं—अमलात्मा परम हंस हैं, उनकी दृष्टि मूल की ओर रहती है केवल फूल की ओर नहीं। वे पारदर्शी होते हैं अतः उनकी दृष्टि सीमा अपार होती है। वे कहते हैं—दीर्घं पश्यतु मा ह्रस्वम्। क्षुद्र पर दृष्टि न डालो, इससे दृष्टि क्षुद्र हो जायगी, दीर्घ दर्शी बनो।

फलतः ऋषि-वाणी का जगन्मङ्गल उद्‌घोष है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—परिदृश्यमान जगत ब्रह्म है पर करुणा-परायण ऋषि देखते हैं कि ऐसा कहने से देहवान् मानव न समझ पायेगा। अतः दयाद्रवित द्रष्टा ऋषि, इस विराट् विश्व को परम-पुरुष के रूप में व्यक्त करता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ,
दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य,
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ।।

—द्वितीय मुण्डक ४

विराट् ब्रह्म का मूर्धा अग्नि है, चंद्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएं उसके कर्ण हैं, वेद उसकी वाणी है, पवन प्राण है। विश्व उसका हृदय है एवं पृथ्वी उसके चरण हैं।

शुक्ल यजुर्वेद का पुरुष सूक्त भी इस प्रकार का रूपक प्रस्तुत करता है। परन्तु विश्व की पुरुषाकार में सुस्पष्ट सांगोपाँग परि-कल्पना सर्वं प्रथम भागवत द्वितीय स्कन्ध प्रथम अध्याय के २६ श्लोक से ३७ श्लोक तक जैसी की गई है वह अत्यन्त दुर्लभ है, नव्य और भव्य है। उसमें वर्णन चरणों से शुरू हुआ है—

पाताल मेतस्य हि पादमूलम् ।

परम प्रभु का पाद-मूल पाताल है, मानसकार ने इस रूपक को अपनाया है मन्दोदरी के द्वारा इसे व्यक्त कराया गया—

'पद पाताल सीस अज धामा' से 'रूप राम भगवान्' तक।६।१।५

इसके पूर्व कहा गया था–'विश्व रूप रघुवंशमनि' पर विश्व को रघुवंश मणि के रूप में देखना बड़ा कठिन काम है–

वाङ्मयं खं हि सर्वत्र वाचा मूकस्व दुर्लभम्,
चिन्मयं ब्रह्म सर्वत्र विद्या-हीनस्य दुर्लभम् ।

शब्द आकाश का गुण है और आकाश सर्वत्र है, फिर भी मूक पुरुष शब्दोच्चारण नहीं कर पाता । उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्म सर्वत्र है, पर विद्याहीन के लिये दुर्लभ है ।

जहाँ प्रकाश-अन्धकार, सज्जन-दुर्जन, विष-अमृत एवं हास्य-रोदन जैसे विरुद्ध धर्मों का अकांड ताण्डव होता है, जिसे देखकर बड़े-बड़े साधना के धनी, धैर्य-शालियों का आसन डोल जाता है, उस जगत को राम रूप में देखना हंसी-खेल नहीं है । अतः उस विराट् भावना को एक तीसरा रूप दिया गया । जिसे गीता में हम विभूति योग के नाम से पढ़ते हैं । हम चाहें विश्व को ब्रह्म का रूप न मान सकें पर विश्व में जो विभूतिमान है, अलौकिक आकर्षण का केन्द्र है, दिव्य-भव्य है, ऊर्जस्वल है, वह सब प्रभु का रूप है, ऐसा मानने में विशेष बाधा नहीं । गीता के दशम अध्याय में इन विभूतियों का बड़ा सुन्दर वर्णन है । इस अध्याय का २२ वां श्लोक तो हमारे प्रति-पाद्य विषय के बहुत समीप है । भगवान कहते हैं–

"वेदानां सामवेदोस्मि"–वेदों में साम-वेद मैं हूं । गीत माधुर्य के कारण रमणीय सामवेद को प्रभु अपना रूप बता रहे हैं । यों गीता में ही भगवान् ने कहा है–

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"—सम्पूर्ण वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूं अथवा सम्पूर्ण वेदों के द्वारा ही मैं वेद्य हूं। प्रभु के स्वरूप बोध में सभी वेद समान रूप से सहायक हैं, फिर भी साम वेद विशेष प्रिय है क्योंकि उसमें स्वरों की सरसता का सम्पुट है, स्वरों का जो वैविध्य है, वह अन्य वेदों के गान में नहीं होता। दूसरे वेद के गान में आरोह - अवरोह के नाम पर कुछ कम्पन मात्र होता है। समस्त गान, एक स्वर को केन्द्र बिन्दु मानकर गंभीरनाद से तानपूरे की तरह झंकृत होता है। गान प्रिय गोविंद को यह प्रिय लगता है, तो उचित ही है—

"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद"—ऐसा कहते हैं श्री हरि। श्रीमद् भागवत में तो यह समग्र गुण, गान-तान विद्यमान हैं फलतः वह भी भगवान् का रूप है। श्रीमद् भागवत को कृष्ण रूप मानने में कुछ अन्य महत्वपूर्ण संकेत प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

[१] भागवत को निगम-कल्प-पादप का मधुर फल कहा है—

निगम कल्पतरोर्गलितं फलम्। भा० १-३

(क) शुकाचार्य की प्रशंसा में कहा गया है—

यः स्वानुभावमखिलं श्रु तिसारमेकम्
अध्यात्मदीपमतितिर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाह पुराण गुह्य,
तं व्यास-सूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥

मनन-शील मुनियों के गुरु व्यास-सुत शुकाचार्य की हम बन्दना करते हैं, जिन्होंने उस गुह्य पुराण का करुणापूर्ण होकर गान किया जो उनके हृदय का सर्वस्व है, अध्यात्म दीप है और समस्त श्रुतियों का सार है। इन दो उद्धरणों से सिद्ध होता है कि निगम कल्प तरु के रस रूप फल, समस्त श्रुतियों के सार केवल भगवान श्रीकृष्ण ही हो सकते हैं अतः श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण रूप है।

[२] राजा परीक्षित की मोक्ष देखकर ब्रह्मा एवं निखिल ऋषि गण ने निर्णय पूर्वक माना—

मेनिरे भगवद् रूपम् शास्त्रं भागवतं कलौ।

भा० माहात्म्य १/२०

कलियुग में भागवत शास्त्र भगवान का रूप है।

[३] यादवों के रोमाञ्चकारी संहार के पश्चात् भगवान स्वधाम जाने को उद्यत हुये तो उद्धव जी ने कहा—प्रभो! आपके जाते ही धरा भारवती हो जायगी, आप इस धरा को न छोड़ें। उद्धव जी की प्रार्थना पर प्रभु ने एक क्षण सोचा और फिर स्वधाम न जाकर श्रीमद्भागवत् में प्रविष्ट हो गये—

स्वकीयं यद् भवेत् तेजस्तच्च भागवतेऽधात्,
तिरोधार्य प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।

भा० माहात्म्य ३/६१/६२

इसलिए श्रीमद्भागवत भगवान् की प्रत्यक्ष वाङ्मयी मूर्ति है।

[४] सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत श्रवण करने के पश्चात् महाराज परीक्षित कृत-कृत्य होकर श्री शुकमुनि से कहते हैं–प्रभो ! मैंने भागवत नहीं, साक्षात भगवान् का श्रवण किया है—

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना,
श्रावितो यच्च मे साक्षात् अनादिनिधनो हरिः ।

(१२/६/२)

करुणामूर्ति, आपके द्वारा मैं अनुग्रहीत हुआ, सिद्ध हुआ, जो कि आपने आदि-अन्तहीन साक्षात् श्रीहरि का श्रवण कराया ।

अब बात आती है, उसके पुरुषाकार में वर्णित होने की, अंग-प्रत्यंग के वर्णन की । इस सम्बन्ध में हम शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक श्री बल्लभाचार्य का मत उद्धृत करते हैं । उन्होंने अपने 'भागवतार्थ प्रकरण' नामक ग्रन्थ के प्रथम स्कन्धार्थ-निरूपण में कहा है कि श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण रूप है, द्वादशस्कंध उसके द्वादश अंग हैं—

पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम्,
हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः । ७ ।
सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चा परः स्मृतः,
उत्क्षिप्त हस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत । ८ ।
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गतनुर्हरिः,
पादौ सक्थौ कटिर्गुह्यम् उदरं हृदयं करौ । ९ ।
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः ।

—श्रीमद्भागवत प्रथम द्वितीय स्कन्ध प्रभु के चरण हैं, तृतीय-चतुर्थ बाहें, पंचम-षष्ठ उरु, सप्तम स्कन्ध एक हाथ और द्वादश स्कन्ध दूसरा हाथ, अष्टम-नवम स्तन, कटि दशम और मस्तक है एकादश स्कन्ध ।

आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य का मत कुछ भिन्न रूप में दिया है । उसके अनुसार—

प्रथम-द्वितीय चरण, तृतीय-चतुर्थ उरु, पंचम कटि, षष्ठ गुह्य, सप्तम उदर, अष्टम हृदय, नवम कर, दशम मुख, एकादश ललाट तथा द्वादश स्कन्ध मूर्धा है ।

आचार्य वल्लभ अपने मत में एकादश स्कन्ध को मस्तक और द्वादश को दूसरा हाथ माना है । इससे हाथ मस्तक से ऊंचा उठ जाता है । इसका अभिप्राय है कि श्रीहरि अपने भक्तों को हाथ उठाकर अपनी ओर बुला रहे हैं—

अब आइये रामचरित मानस की ओर । उपरातन पद्धति से जब हम मानस के रूप पर विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि जिस प्रकार श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण रूप है उसी प्रकार श्री राम-चरित मानस भी भगवान श्रीराम का रमणीय रूप है ।

(१) भागवत, निगम कल्प तरु का मधुरतम रस रूप फल है, तो मानस भी नाना पुराण निगमागम सम्मत है, सम्मत ही नहीं सारातिसार सर्वस्व है । पर्वततनया के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न परम्परा में प्रसिद्ध वाक्य है—

बंदउं पद धरि धरनि सिर विनय करउं कर जोरि ।
बरनउं रघुबर बिसद जस श्रुति सिद्धांत निचोरि ।।

महेश-प्रिया पार्वती, श्रुति का सार-सिद्धांत सुनना चाहती हैं। हम यह पूर्व ही कह चुके हैं श्रुतियों का सार सिद्धांत साक्षात प्रभु हैं।

रामायण की आरती का निम्नस्थ वाक्य इसी तथ्य का उद्घोष है।

गावत वेद पुरान अष्ट दस,
छहो शास्त्र सब ग्रंथन को रस।

अतः मानस समग्र वाङ्मय का रस है। श्रुति का कथन है—'रसो वै सः'—वह रस रूप है, फलतः रस रूप राम का स्वरूप है 'मानस'।

(२) श्रीराम सत्य-सन्ध हैं। उनका कथन अमोघ है वह झूठा नहीं होता, अतः मानस में उन्हें 'सत्य-संकल्प' एवं 'सत्य-संध' पद से पुनः पुनः कहा गया है।

रामचरित मानस भी सत्य-संध है। उसका कथन भी अमोघ है। गोस्वामी जी ने कहा है—

तो फुर होइ जो कहहुं सब भाषा भनिति प्रभाउ।

(३) राम के संकेत से शारदा नर्तन करती है। भक्तों के, कवियों के हृदय में रामचरित मानस के नाम पर भी सरस्वती नृत्य करती है—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवत धाई॥
रामचरित तरु बिनु अन्हवाये।
सो स्रम जाइ न कोटि उपाये॥

(४) श्रीराम की प्रशंसा शत्रु भी करते हैं—

बैरिहु राम बड़ाई करहीं।

शूर्पणखा, खर-दूषण, परशुराम आदि के प्रसंग में इस तथ्य को अच्छी प्रकार देखा जा सकता है।

रामचरित मानस में भी यह मोहक गुण विद्यमान है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने संकेत दिया है—

सहज बैर बिसराय रिपु, जेहि सुनि करहिं बखान।

रहीम खानखाना कहते हैं—

रामचरित मानस बिमल सन्तन्ह जीवन प्रान।
हिन्दुआन को वेद सम यवनहिं प्रकट कुरान।।

राम-कथा शोध ग्रंथ के लेखक डा० कामिलबुल्के ने एक बार अपने भाषण में कहा था––'मैं अपने धर्म का आस्थवान क्रिश्चियन हूं, मेरा उपास्य मेरी उपासना के अनुसार है। मैं राम का भक्त नहीं हूं। हाँ, एक बात मैं अवश्य सोचता हूं कि मृत्यु के अनन्तर मैं स्वर्ग अवश्य जाऊंगा क्योंकि मैंने अपने जीवन में श्रद्धा-पूर्वक अपने धर्म का पालन किया, प्रचार किया है। उसका महान् पुण्य मेरा सम्बल है। स्वर्ग पहुंचने पर मेरा पहला काम होगा गोस्वामी तुलसीदास का पता लगाना। उनके मिलने पर मैं चरणों में झुककर कहूंगा कि–महाकवे! 'तुम्हारे रामचरित मानस ने मेरे जीवन को जो सरसता दी, जो पंथ-प्रकाश दिया, तदर्थ मैं आपका कृतज्ञ हूं। स्वर्ग में भी आपको नहीं भूल सकता।'

ये उद्गार हैं एक भिन्न धर्मावलम्बी बेल्जियन पादरी के। नास्तिक मतानुयायी रूस ने भी मानस का सम्मान किया है। अतः यह तथ्य भी इसका पोषक है कि मानस राम-रूप है।

(५) गोस्वामी जी ने रामचरित मानस का आरम्भ ठीक उसी दिन और ठीक उसी नगरी में किया जिस दिन तथा जिस नगरी में श्रीराम का जन्म हुआ था—

नौमी भौमवार मधु मासा ।
अवधपुरी यह चरित प्रकाशा ॥
जेहि दिन राम जन्म श्रुति गावहिं ।
तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥

तो श्रीराम जन्म के अवसर पर जो योग, लग्न ग्रह, वार, तिथि का मंगलमय सुयोग था, मानस का प्रकाश भी ऐसे ही शुभ मुहूर्त में, शुभ सुयोग में हुआ। श्रीराम की जन्मभूमि अयोध्या नगरी है, मानस की जन्मभूमि भी वही है। उस दिन भारतवर्ष के समग्र तीर्थ अयोध्या आये, मानो श्रीराम के आते ही सम्पूर्ण तीर्थों की पवित्रता, शुचिता एकत्र हो गई। मानस में भी निखिल तीर्थों की कृतार्थता बस गई—

जिन्ह एहि बारि न मानस धोये ।
ते कायर कलिकाल बिगोये ॥

उस दिन—

असुर नाग खग नर मुनि देवा ।
आइ करहिं रघुनायक सेवा ।।

इस प्रकार मानस का सेवन भी उक्त प्रकार के व्यक्ति करते हैं क्योंकि मानस में इन सबका सम्मेलन है । जो उद्देश्य श्रीरामावतार का है वही प्रयोजन मानसावतार का है । अतः श्रीराम रूप ही है ।

(६) श्रीराम का जन्म तो हुआ पर जीव के समान कर्माधीन नहीं था, न जीव के समान जन्म पीड़ाप्रद था । यों कर्म भगवान भी करते हैं, जन्म भी लेते हैं—

एहि विधि जनम करम हरि केरे ।
राम जन्म सुख मूल ।
राम जनम के हेतु अनेका ।

इत्यादि, पर—

जन्मकर्म च मे दिव्यम् । (गीता)

उनका जन्म दिव्य, उनका कर्म दिव्य । जन्म लेकर भी वह अजन्मा है । कर्म करता हुआ भी दिव्य कर्मा है अतः कर्तव्य से रहित है ।

ठीक इसी प्रकार मानस का जन्म भी दिव्य है । इसका जन्म तुलसीदास जी की कल्पना से नहीं हुआ । अन्य काव्यों का

जन्म होता है कवियों की कल्पना प्रसू से, पर 'मानस' का राम की तरह प्राकट्य हुआ, प्रकाश हुआ—

अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।

मानस की रचना में गोस्वामी जी अपना कर्तृत्व नहीं मानते, वह उनकी कृति नहीं ।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में बड़ी सुशिष्ट नम्रता का परिचय दिया । उनकी प्रथम वन्दना है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये,
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।

शब्दार्थ बोध के लिये शब्दार्थ की तरह संश्लिष्ट अभिन्न जगत् के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता हूं । कवि नम्रता पूर्वक स्वीकार करता है कि शब्द अर्थ का स्फुरण शिव की कृपा से होगा पर शब्द अर्थ का संयोजन मेरे माध्यम से होगा । उसके कर्तृत्व से वे इन्कार नहीं करते । गोस्वामी जी काव्य को शिव कृपा का फल मानते हैं, वे शब्दार्थ बोध की कृपा नहीं चाहते । वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीनों प्रकार के शब्दों तथा वाच्य एवं व्यङ्ग्य तीनों प्रकार के अर्थों का भण्डार खुल पड़े, उससे क्या होगा ? उनका सामञ्जस्य उनकी ईश्वरोन्मुखता तदनुकूल समुचित प्रयोग तो प्रसादी-कृत प्रतिभा पर निर्भर है । गोस्वामी जी यह स्वीकार करते हैं कि मुझ में सुमति का यह सुभग सौरभ नहीं है—

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा ।
लघु मति मोर चरित अवगाहा ।।
मति अति नीच ऊँच रुचि आछी ।
चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी ।।
मन मति रंक मनोरथ राऊ ।

इनकी इस निश्छल बाल-विनय पर भोला रीझ गया और दे डाली प्रसादीकृत प्रतिभा—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी ।
रामचरित मानस कवि तुलसी ।।

सुमति मिल गई, कवि कहलाने के अधिकारी हो गये । अब तो वे उस सुमति से शब्दार्थों का रस अलंकारों का यथा स्थान प्रयोग कर सकेंगे । तुलसीदास जी बोले—नहीं । शिव प्रदत्त सुमति से मैं यह समझ गया कि—

वर्णानाम् अर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ ।।

अर्थात् जगन्मंगल वर्ण-समूह, अर्थपुञ्ज, रस संग्रह तथा छन्द-वृन्द इन सबके कर्ता तो वाणी विनायक हैं । कर्तृत्व का अभिमान भार कैसे ले सकता हूं ? मुझ में कर्तृत्व तो नहीं । तुलसीदास तो शिव समर्पित सुमति से प्रभु-प्रेरणा का भाषानुवाद करेगा ।

तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे ।

अनुवाद अपने आपको कर्ता किस मुंह से कहेगा ? इतनी विनय है इस महाकवि – मुकुट – मणि में और यह कोरी विनय

नहीं, फलों से लदकर झुकी डालियों जैसी सरल नम्रता है। इसमें अलीक नहीं, मानस तो शिव प्रदत्त सुमति से समुद्भूत प्रभु प्रेरणा का प्रकट रूप है। यह कवि की रचना नहीं। अतः प्रभु श्रीराम की तरह स्वतः प्रादुर्भूत है।

(७) गीता में वर्णित विभूति योग की दृष्टि से 'मानस' श्रीराम का रूप है। यह लक्ष्य स्पष्ट होता है साम्य-सूचक कुछ पंक्तियों से—

(क) भगवान कहते हैं धेनुओं में मैं कामधेनु हूं—

धेनूनामस्मि कामधुक्। (गीता १०/२८)

गोस्वामी जी कहते हैं मानस भी काम पूरक कामधेनु है—

रामकथा कलि कामद गाई ।

अथवा—

(ख) भगवान कहते हैं – प्रकाशकों में मैं द्युतिमान् सूर्य हूं।

ज्योतिषां रविरंशुमान् । (गीता १०/२१)

'मानस' भी सूर्य है—

हरन मोहतम दिनकर कर से।

(ग) प्रभु वाक्य है—नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूं—

नक्षत्राणामहं शशी ॥

रामचरित मानस भी चन्द्रमा है।

रामचरित राकेश कर सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित विशेष बड़ लाहु ॥

अथवा—

राम कथा ससि किरन समाना ।
सन्त चकोर करहिं तेहि पाना ।।

(घ) श्रीहरि बताते हैं—जलाशयों में सागर मैं हूं ।

सरसामस्मि सागरः ।।

रामचरित मानस भी ऐसी गहराई रखता है—

चरित सिन्धु रघुनायक थाह कि पावइ कोइ ।

(ङ) भगवान वन्य जीवों में सिंह हैं—

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम् ।

मानस भी सिंह है—

केहरि सावक जन मन बन के ।

(च) नदियों में गंगा प्रभु का रूप हैं—

स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।

रामचरित भी गंगा-तरंग है—

पावन गंग तरंग माल से ।

(छ) अग्नि प्रभु का रूप है—

वसूनां पावकश्चास्मि ।।

मानस की तेजस्विता भी अग्नि तुल्य है—

दो०—कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दम्भ पाखण्ड ।
दहव राम गुन ग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचण्ड ।।

(ज) श्रीराम मराल हैं–

शंकर मानस राज मराला ।

मानस मराल–

सेवक मन मानस मराल से ।

श्रीराम अनन्त हैं तो उनका चरित्र भी अनन्त हैं–

राम अनन्त अनन्त गुणानी ।

वस्तुत: श्रीरामचरित में श्रीराम के नाम रूप लीला धाम इन सबका वर्णन है । इन सबको लेकर साम्य-समर्पक अर्धालियों की सूची पर्याप्त लम्बी हो सकती है । बुद्धिमान् अध्येता इस ओर अधिक अग्रसर हो सकते हैं । यहां तो कुछ दिशा - संकेत किया गया है ।

अब तक हमने कुछ ऐसे तथ्य रखे जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचरित मानस को राम रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं और न ऐसा करना युक्ति - विरुद्ध या शास्त्र–विरुद्ध ही है ।

अब हम शंका के उस अंश पर विचार करेंगे जिसमें पूछा गया है कि अमुक छप्पय में वर्णित बाल आदि काँडों की चरणादि के रूप में बताकर किस रहस्य की ओर संकेत किया गया है ?

मानस-जगत में बहुचर्चित वह छप्पय इस प्रकार है–

बालकांड प्रभु चरन अयोध्या कटि मन मोहै ।
उदर बन्यो आरन्य हृदय किष्किन्धा सोहै ।।

सुन्दर ग्रीव मुखारविन्द लंका कहि गायो,
जहाँ दशानन आदि निसाचर कटक समायो ।
मस्तक उत्तर कांड सुचि, यहि विधि तुलसीदास भन,
आदि अन्त लौं देखिये श्रीमन्मानस राम तन ।

इस छप्पय में छाप 'तुलसीदास' की है पर इसे माना जाता है 'तत्ववेत्ता' कवि का । इसमें चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त प्रभु के अंगों की परिकल्पना है । रूपक की ऐसी उद्‌भावना भावना की भित्ति पर तो है ही, पर साथ ही उसमें शास्त्रीय परम्परा का पालन भी किया गया है । भागवत द्वितीय स्कन्ध में प्रभु का ध्यान चरणों से शुरू किया है । भगवान कपिलदेव ने भी देवहूति को प्रभु के समग्र अंगों का ध्यान बताते हुये सर्व प्रथम प्रभु चरणों का ध्यान बताया है । अतः तत्ववेत्ता भी इस तत्व से अनभिज्ञ नहीं, वह भी श्रीराम का ध्यान चरणों से प्रारम्भ करते हैं ।

बालकांड प्रभु चरन

बालकांड प्रभु का चरन क्यों हैं ? क्या इसमें कुछ तुलनात्मक तथ्य है ? हमें लगता है, तथ्य कुछ है अवश्य और वह भी समुचित तथा संगत जान पड़ता है । बात यह है कि बालकांड में भगवान का अवतार - चरित है । अवतार का स्थूल अर्थ है उतरना । कहाँ उतरे प्रभु ? वसुन्धरा पर । वसुन्धरा क्या है ? वह है प्रभु के चरणों से उत्पन्न विभूति । वेद कहता है—

"पद्‌भ्यां भूमिः"—(शुक्ल यजु-पुरुष सूक्त) भूमि विराट्-ब्रह्म के चरणों से संजात है । चरण-संभूत भूमि पर भगवान के

मंगलमय चरणों का शुचि स्पर्श हुआ, मालती - मृदुल पादपल्लवों से अलंकरण हुआ। कहाँ हुआ ? बालकांड में। अतः बालकांड प्रभु चरण हैं।

दूसरा तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। बालकांड में भगवान के चरणों का जो चमत्कार देखा गया है वह अन्य किसी कांड में नहीं। उक्त चमत्कार चमकता है अहल्योद्धार में। इस घटना की प्रतिक्रिया इतनी मर्म-मधुर हुई, इतनी व्यापक हुई कि श्रीराम लोगों की आस्था के केन्द्र बन गये, जादूगर बन गये एवं अद्वितीय शरण्य बन गये।

जनक नगर की नवल-नागरियों में नयनाभिराम श्रीराम को देखकर इसीलिये विशेष हर्ष छा गया था कि ये 'मग मुनि बधू उधारि' कर आये हैं। श्रीराम के सामर्थ्य पर इसी घटना ने मोहर लगा दी थी—

परसि जासु पद पंकज धूरी।
तरी अहल्या कृत अघ भूरी।
सो कि रहिहि बिन सिव धनु तोरे।
अस प्रतीति परिहरिअ न भोरे।।

अलौकिक प्रीति का चमत्कार भी दिखाया इस घटना ने—

गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पद पानि।
मन बिहँसे रघुवंश मनि, प्रीति अलौकिक जानि।।

अम्बा कौसिल्या ने तो इस लोकोत्तर कर्म - सामर्थ्य को महान् तपस्वी ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की कृपा का फल समझकर सन्तोष कर लिया—

मुनि तिय तरी लगत पग धूरी।
कीरति रही भुवन भरि पूरी।
सकल अमानुष करम तुम्हारे।
केवल कौसिक कृपा सुधारे॥

इसकी गूंज वन वीहड़ों में फैलती हुई हनुमान के समान सागर फांद लंका तक पहुंच गई थी जिसका निष्ठा पूर्वक सर्व-प्रथम स्मरण शरणोन्मुख विभीषण ने किया था—

जेहि पद परसि तरी ऋषि नारी।

केवट की घटना सर्वविदित है। इस घटना का इतना अधिक कौतूहल था कि विंध्य के वासी उदासी तपस्वियों ने उसका चमत्कार वहाँ देखना चाहा था। पर वहाँ सम्भव नहीं हुआ। वह चरण-चमत्कार तो केवल बालकाण्ड की निधि थी। इस प्रसंग पर संस्कृत-हिन्दी के कवियों ने जो भाव-प्रसून चढ़ाये हैं, वह तो एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। अतः कवि का यह कहना उचित ही है कि—'बालकांड प्रभु चरन।'

बालकांड में चरणों का चिन्तन इतनी भाव-भंगिमाओं से हुआ है कि देखते ही बनता है। किसी भी कांड में संख्या की दृष्टि से भी इतना अधिक स्मरण नहीं हुआ है। अतः यह संगत है कि बालकांड प्रभु के चरण हैं।

अयोध्या कटि

कवि अयोध्या को मनमोहक कटि कहता है। शरीर में कटि का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है। कटि की शोभा तब होती है जब वह पतली हो पर साथ ही सबल हो। इसीलिए श्री गोस्वामी जी ने श्री राघव जी की कटि को 'केहरि कटि' कहा है। सिंह की कटि का क्या कहना! ओजस्बिता तेजस्विता की उत्ताल-तरंगों से भरे, बल-जलधि का तट है—कटितट। पर केहरि-कटि की कमनीयता खिलती है कानन में, शहरों में नहीं आखिर 'केहरि-कटि' जो ठहरी! नगरों में तो बन्दिनी बनकर रहती है, देखा यही जाता है श्रीराम की स्थिति ऐसी ही तो है—

छूट जानि वनगमन सुनि, उर अनन्द अधिकान।

वन-निवास सुखद है। अब देखा जाय कि कवि किस उद्देश्य से अयोध्या कांड को कटि कहता है। हमें ऐसा लगता है, कि इस कांड का कटि से गहरा सम्बन्ध है। आखिर है क्या इस कांड में? राज्य त्याग और वनगमन। वनगमन का हेतु क्या था? सुरकाज—

राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुरकाज।

सुरकाज क्या था? भूमि के भारभूत राक्षसों के सहित त्रैलोक्य कंटक दशकन्धर का विनाश! भगवान के अवतार का लोक-विदित प्रयोजन यही तो था। साथ ही लोकलीला के अनु-रूप पिता की आज्ञा का पालन, मातृ-प्रेम आदि का लोकोत्तर रूप निरूपित करना। अयोध्या कांड से इन सब का श्री गणेश है। मानों वन की ओर प्रस्थान का लाक्षणिक अर्थ हुआ प्रचण्ड संघर्षों

में पुरुष सिंह बनकर दैत्य दलन के हेतु कमर कसना, कटि कसना। कटि कसना मुहावरा है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के हेतु दृढ़ संकल्प लेना कटि कसना है। यह बात अयोध्याकाण्ड से ही सिद्ध होती है। उस संकल्प का क्रियात्मक रूप यहीं से शुरू है। अतः अयोध्या कटि है।

परन्तु जब कटि कसी जाती है तो पीड़ा कटि को होती है। इन कार्यों के लिये श्रीराम के कमर कसने पर अयोध्या कटि को वास्तव में कस जाना पड़ा। दुहरे बन्धनों से कसी गई वह। जैसे श्रीराम की कटि पीतपट से कस गई पुनः आवद्ध हुई तूणी के बन्धन से। अयोध्या का भी बन्धन दुहरा हुआ। चक्रवर्ती का स्वर्गवास और राम का बनवास अथवा श्रीराम वनवास के पश्चात् अयोध्या वासियों ने अपने आपको कस लिया नियम-नियन्त्रणों में—

तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि को आस।

ओर दूसरी ओर—

भरत भवन बसि तपि तनु कसहीं।

और इस कसने में कटि का सूक्ष्म हो जाना सहज सम्भव है। अयोध्यावासी—'कृश तन राम वियोग' हो गये। तथा भरत की स्थिति है—'देह दिनहिं दिन दूबरि होई,' पर सबल है—'तेज बल मुख छबि सोई।' फलतः कवि का कथन ठीक ही जंचता है कि अयोध्या कटि है। राम मर्म के मर्मज्ञ केवट ने सम्भवतया सूक्ष्म संकेत दिया था—

कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू।

मानों कह रहा था कि आप जिस कारण से जा रहे हैं, मैं जानता हूं कि चाहे सुर-सरिता हो चाहे समर-सागर। आपकी कसी कटि के नीचे ही रहेगा, आप सहज में ही पार हो जायेंगे। यदि इस मनो-मोहिनी कटि का सम्बन्ध सब के साथ जोड़ लिया जाय तो अयोध्या काण्ड में घटित समग्र घटनाओं में इस कटि का प्राधान्य दिखाई देगा। महाराज दशरथ ने इस पर कमर कस ली, श्रीराम को राज्य देंगे। देवताओं ने इसके विपरीत कटि कस डाली कि—'राम जाहिं वन राज तजि'। सरस्वती ने बेचारी मन्थरा की कमर इतनी अधिक कस दी कि मुंह के बल गिर पड़ी, कूबड़ फूट गया। कैकेयी ने अपनी कमर कसी। श्री भरत ने श्रीराम को लौटाने के किये कटि कसी। पर वास्तव में जिसने कटि तट में तरकस कस लिया। उन श्री रामचन्द्र का कटि कसना ही सर्वोपरि था या कहना चाहिए कि उसी का अनुगमन सब ने किया।

उदर बन्यो आरण्य

अरण्यकांड भगवान का उदर है। उदर का क्या काम है। भूख लगने पर उसकी तुष्टि की जाती है, उसे पूर्ण किया जाता है। इस कांड में राम-उदर की तृप्ति दो प्रकार से हुई है। एक प्रकार है भाव का, दूसरा प्रकार है प्रभाव का। भगवान प्रेम के भूखे हैं, भाव-भोगी हैं, तृप्ति इस काण्ड में हुई।

कविवर तत्त्ववेत्ता ने कहा है कि—

दो०—तत वेत्ता तिहु लोक में, भोजन किये अपार।
कै सबरी के विदुर घर, रुचि पाई दो बार॥

श्रीरामावतार में अद्भुद तृप्ति केवल एक बार हुई और वह हुई शबरी जी के द्वारा—

दो०—कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आन ।
प्रेम सहित प्रभु खाए, बारम्बार बखान ।।

गोस्वामी जी 'विनय' में कहते हैं—

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भई जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ।।

दूसरे प्रकार की तृप्ति का सम्बन्ध प्रभाव से है । प्रभाव का प्रयोग राक्षस-वध में किया । वन में आने का मूल कारण भी तो वही है । राक्षस वध का अभूत पूर्व संकल्प अरण्यकांड में ही सम्पन्न हुआ है—

दो०—निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन ।।

प्रभु का संकल्प अमोघ है, गीता में ११ वां अध्याय इसका प्रमाण है । वहाँ विराट-प्रभु के उदर में सभी महारथी प्रविष्ट हो गये, यह अर्जुन को दिखाया और अन्त में कहा—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' । संकल्प के साथ ही सारी सेना सेनापतियों के साथ समाप्त हो गई, अब तो तुम केवल वध में निमित्त मात्र हो । उसी प्रकार काल रूप खल-दल दहन राम के उदर में सम्पूर्ण राक्षस समा गये । १४ सहस्त्र राक्षसों का वध इसका क्रियात्मक संकेत था अतः अरण्य कांड उदर है ।

एक तीसरा प्रकार और है। श्रीराम के उदर में क्या है? कागभुशुण्डि कहते हैं—

'राम उदर देखेउ जग नाना।'

श्रीराम के उदर में संसार के विभिन्न रूप देखे जाते हैं। अरण्य कांड में यही बात है। बेचारे जयन्त को न जाने कितने लोक देखने पड़े—

ब्रह्म धाम सिवपुर सब लोका।
फिरा भ्रमित व्याकुल भय सोका।।

इस कांड का एक पात्र है विराध। वह था तो गन्धर्व-लोक का निवासी, पर बन गया राक्षस-जगत का वासी। श्री राम के सम्पर्क में आते ही, हो गया दिव्य देहधारी दिव्यलोक का वासी। एक पात्र है मारीच, था वह राक्षस। चोट खाकर बन गया तपस्वी। दुर्भाग्यवश मिल गया, रावण का कुसंग, तो पड़ गया तिर्यक-योनि में, मृग-देह में। राघवेन्द्र ने दिखा दिया कि उसे मुनि-दुर्लभ दिव्यलोक—

'राम उदर देखेउ जग नाना।'

गीध था तो देव परम्परा का, पर पड़ा आमिष भोगी अधम खग की निकृष्ट योनि में। श्रीराम ने बना दिया शंख-चक्र-गदा पद्म वनमाला विभूषित पीताम्बरधारी दिव्य पार्षद तदनुरूप वह दर्शन करता है प्रभु के दिव्य लोक का। शबरी को देखिये कि वह भील जगत् की कन्या, पहुंच गई मुनि-जगत में। भगवान ने ले लिया उसे अपने कृपा राज्य में—

पदलीन भई जहँ नहिं फिरे।

'राम उदर देखेउ जग नाना' वाली बात इस कांड से पर्याप्त संगत होती है। अतः कवि का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है कि—'उदर बन्यो आरण्य।'

हृदय किष्किन्धा सोहै

किष्किन्धा कांड भगवान का हृदय है। इस कथन में औचित्य है, तथ्यों का बल है। आकार की दृष्टि से हृदय लघु होता है, और स्थिति की दृष्टि से वह प्रायः मध्य में होता है। ये दोनों तथ्य किष्किन्धा कांड पर लागू होते हैं। वह सम्पूर्ण कांडों में लघु है, कुल ३० दोहे हैं उसमें और वह ठीक मध्य में है। तीन काण्ड उसके पूर्व में हैं—बाल, अयोध्या और अरण्य। तीन कांड उसके पश्चात् हैं—सुन्दर, लंका और उत्तर। ठीक मध्य में है किष्किन्धा, अतः वह राम-रूप मानस का हृदय है।

गुणों की दृष्टि से भी यह काण्ड हृदय है। जैसे हृदय समग्र गुणों का आश्रय होता है, व्यक्ति के सम्पूर्ण गरिमा-रत्नों का कोष है। वैसे ही यह कांड विभिन्न गुणों, धर्मों एवं नीतियों की निधि है। इसमें कर्म, ज्ञान, उपासना का स्वरूप और फल तथा पाँचों तत्वों के कार्य और परिणाम, जीव माया, ईश्वर की पहिचान, मन, वचन-कर्म के परिणाम, चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के धर्म, सन्त- असन्त, पण्डित-मूर्ख के लक्षण आदि सब का थोड़ा-थोड़ा, सम्यक् विश्लेषण है। मानस के अध्ययनशील इन तथ्यों से अवगत हैं अतः इनके विवेचन से विरत होता हूं।

पुनः इन धर्मों का एक प्राणधर्म है, वह है मित्र धर्म । यही इस कांड का मुख्य प्रतिपाद्य है क्योंकि इसमें सर्वेश्वर श्रीहरि ने वानर को मित्र बनाया है । प्रभु तो अनादि काल से जीव के मित्र हैं, जीव के हृदय में निवास करते हैं—देखा करते हैं अपने प्यारे सखा को । पर साथी उसे भूला रहता है, उसे जान लेने पर जीव अनन्त शान्ति का अधिकारी हो जाता है—

सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति—गीता ।

यह भी एक विलक्षण बात है कि इस कांड में ईश्वर जीव की योग्यता नहीं देखता, यहाँ जीव देखता है प्रभु की योग्यता । वह करता है उनकी परीक्षा । परीक्षार्थी प्रभु परीक्षा में खरे उतर कर विश्वास-पात्र बनते हैं जीव के । कितनी उल्टी बात है । ऐसा मित्र धर्म तो सारे धर्मों का हृदय है ।

सुन्दर ग्रीव

सुन्दरकाण्ड प्रभु की ग्रीवा है, कण्ठ है । कण्ठ का जहाँ सौन्दर्य, अभिव्यक्त किया गया है, वहाँ त्रिरेखांकित कण्ठ को शंख में उपमित किया गया है । गोस्वामी जी ने जहाँ भी राघव के कण्ठ-लावण्य को प्रकट किया है वहाँ उसे शंख-संनिभ कहा है—

कम्बु कण्ठ अति चिबुक सुहाई ।
रेखें रुचिर कम्बु कल ग्रीवा ।

'उर मनिमाल कम्बु कलग्रीवा' में कण्ठ को कम्ब-कमनीय कहने का कारण यह है कि जिस प्रकार शंख में तीन रेखायें

होती हैं वैसे ही कण्ठ भी रेखात्रय - वलित होता है। शंख से निकलने वाली ध्वनि मांगलिक होती है। वैसे ही यह कण्ठ भी शंख सदृश है जिससे मंगलप्रद शब्द निकलते हैं। शंख का उपयोग दो स्थलों पर होता है—किसी मंगलमय कार्य में अथवा शत्रु पर विजय या आक्रमण करने की बेला में। श्रीराघव के कण्ठ में ये सब विद्यमान हैं। उसमें तीन रेखायें हैं। उत्प्रेक्षण के परिवेश में कविवर 'श्रीकृष्ण' ने अपने भरत चरितम् नामक ग्रन्थ में कहा है—

न नाकिनां सद्मनि नापि भूतले रसातले वापि न रूपमीदृशम।
इतीव तत्कम्बुगले शलाकया लिलेख लेखात्रितयम् जगद्गुरुः।

ऐसा रूप न तो अमर लोक में है, न भूतल में है, न रसातल में ही है। इस प्रकार लोकों में उसके अभाव को अभिव्यक्त करने के लिए ही विधाता ने शंखतुल्य गले में तीन रेखायें खींच दी हैं।

द्वितीय गुण भी प्रभु के कण्ठ में बराबर छलकता है, जब कभी प्रभु बोलते हैं तो उनके कण्ठ से मंगलमय शब्द गूंजते हैं, मंगल मूल होते हैं बोल।

अब हम उन्हीं संकेतों पर देखेंगे कि सुन्दर काण्ड को कण्ठ क्यों कहा गया है। सुन्दर काण्ड की प्रधान घटना थी हनुमान का लंका प्रवेश।

श्री हनुमान हैं कर्पूर गौर शंकर के अवतार। उनके हृदय में निवास करते हैं श्रीराम। फलतः जब शिव बोलते है

तो मानो श्रीराम ही बोलते हैं क्योंकि भूतभावन का जीवन तो प्रभु को समर्पित है। अतः शिव भी रघुवर - कण्ठ हैं। महावीर जो कुछ लंका में बोले वह श्रीराम का था। वे गये तब— **'चले हरषि हिय धरि रघुनाथा'** तब किसी ने पुनः स्मरण दिलाया—

प्रविसि नगर कीजै सब काजा।
हृदय राखि कौसलपुर राजा।

कैसे मंगलमय स्वर थे इस शंख के। लंका को लंका के राजा को एवं लंका निवासियों को इस शंख की ध्वनि ने जगा दिया और आक्रमण की सूचना दे दी—

'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी'

आते ही राघव ने अपने कम्बु कण्ठ को अपने कंठ से लगा लिया था।

सहस बदन तुम्हरो जस गावें। अस कहि श्रीपति कंठ लगावें ।।

अतः कहा—सुन्दर ग्रीव।

मुखारबिन्द लंका कहि गायो

लंका कांड को मुखारविन्द बताया है उसकी व्याख्या तो कवि स्वयं कर देता है—

जहाँ दसानन आदि निशाचर कटक समायो।

रावण और कुम्भकरण दो ही प्रधान हैं, शाप ग्रस्त वरिष्ठ पार्षद है, सम्पूर्ण राक्षसों के प्रतिनिधि। उनका तेज़ प्रभु मुख में प्रविष्ट हुआ, यह तो वर्णित है ही।

कुम्भकरण- तासु तेज प्रभु बदन समाना ।
रावण- तासु तेज समान प्रभु आनन ।।

मुख में राक्षस कटक समा गया, ऐसा कहकर कवि ने एक सुन्दर संकेत दिया है कि जो प्रभु के मुख में समा गया वह तो प्रभु का अभिन्न अंग बन गया ।

रामाकार भये तिनके मन ।।

मस्तक उत्तर काण्ड श्रुति

उत्तरकाण्ड प्रभु का मस्तक है क्योंकि उत्तरकाण्ड में भगवान के मस्तक को महर्षि वशिष्ठ ने अवध के विशाल राज्य के प्रतीक किरीट मुकुट से मण्डित किया । रघुकुल तिलक राम के ललाट पर राज तिलक हुआ, विश्व की समस्त शक्तियों ने अपने मस्तक झुकाए प्रभु के चरणों में । इन्द्र धनुषी बन गया प्रभु का पाद पीठ, प्रणतों की किरीट-रत्न प्रभा से । श्रीराम तो स्वयं श्रुतियों के मस्तक हैं ।

जहँ बस श्री निवास श्रुति माथा ।

दुष्प्रवृत्ति के प्रतीक पुरुषादों से पराजित, सुप्रवृत्ति के लोगों का मस्तक झुक गया था । उनके सामने एक प्रश्न ने सिर उठाया और उसने उनके साधन को, तपःपूत जीवन को, उनके सत्कर्मों को, झकझोर कर पूछा था कि–संसार में बड़ा देवत्व है अथवा राक्षसत्व ? यदि सत्कर्म प्रबल होते तो असत्कर्मों की विजय क्यों ?

प्रश्न के अभिमुख अधोमुख थे, मौन थे सब। पर जैसे ही असत्-कर्मा राक्षसेन्द्र रावण के गर्वोन्मत्त सिर धराशायी हो गए, जिन मुखों ने दूसरों को खाया वे खाए गए सियारों के द्वारा। इस दृश्य पर चकित हुई सारी दुनियाँ। सत्कर्मों के मस्तक ऊंचे हुए और रामराज्य की स्थापना कर श्रीराम ने इसका स्थायी उत्तर दिया मानों श्रीराम का नहीं मूर्तिमान पावन चरित्रों का, तपः, पूतः आत्माओं का, स्नेह-सत्य-शील का अभिषेक हुआ। और यह सब घटित हुआ उत्तरकाण्ड में।

अतः ठीक ही है—मस्तक उत्तरकाण्ड शुचि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे गुणी से गुण अभिन्न होते हैं क्रियावान् से क्रिया अलग नहीं होती वैसे ही चरित्र नायक से चरित्र अभिन्न होते हैं तो श्रीराम से अभिन्न है राम-चरित मानस, साक्षात् प्रभु का रूप है वह, इसलिये यह ठीक ही कहा है—

श्रीमन्मानस राम तन।

मानस में वर्ण-विन्यास

●

रामचरित मानस में जो वर्णक्रम है, वर्ण विन्यास है, वह एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि **'कबिहि अरथ आखर बल सांचा'** कहा गया है। संस्कृत की सूक्ति है—**'वर्णा वै कामधेनवः'** अतः 'मानस' पर विचार करते समय उसके 'वर्ण वैभव' पर दृष्टि डालना परमाश्यक है।

ग्रंथ का आरम्भ 'व' से है—वर्णानाम्……और 'मानस' की समाप्ति भी 'व' पर है—दह्यन्ति नो मानवाः। ऐसा क्यों? भक्ति के भावभीने धरातल पर देखें तो गोस्वामी तुलसीदास जी का सर्वस्व तो रामनाम है—'शिव की सपथ सरबस मेरे रामनाम'। उनका वही सर्वोपरि तत्व है—**'मोरे मत बड़ नाम दुहूं ते'**—मानस। तब क्यों न उन्होंने रकार या मकार से ग्रन्थारम्भ किया?

पर वास्तव में यह प्रश्न भावात्मक हो गया है, काव्यात्मक नहीं रहा। हमें तो सर्व प्रथम उस पर काव्य दृष्टि से, कवि परम्पराओं के परिवेश में देखना है। कवि परम्परायें क्या हैं एतद् विषयक—संस्कृत वाङ्मय में विपुल सामग्री उपलब्ध है। 'चमत्कार चन्द्रिका' नामक ग्रंथ में कहा गया है—

वर्णानामुद्भवः पश्चाद् व्यक्तिः संख्या ततः परम्।
भूतबीज विचारश्च ततोवर्ण ग्रहा अपि।
एतत्सर्वंसविज्ञाय यदि पद्यं वदेत् कविः।
केतकारूढकपिबत् भवेत् कण्टकपीडितः॥

—वर्णों की उत्पत्ति, उनकी अभिव्यक्ति, संख्या, उनका बीज तथा वर्णों के ग्रह, इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त किये बिना जो कवि काव्य-प्रबन्ध में प्रवृत्त होता है, वह केवड़ा के पेड़ पर चढ़े बन्दर की तरह कण्टक-पीड़ित होता है। 'चन्द्रिकाकार' आगे कहते हैं—

—स्थूल वर्ण भूतात्मक हैं-वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल और आकाश इन पञ्चभूतों से सम्पूर्ण वर्ण उत्पन्न हुए हैं। स्वर भाग का स्वामी सूर्य है, क वर्ग का स्वामी भौम है, च वर्ग का शुक्र, ट वर्ग का बुध, त वर्ग का बृहस्पति, प वर्ग का शनैश्चर और य वर्ग का स्वामी चन्द्रमा है।' इस प्रकार सप्तग्रहों का सम्बन्ध भी वर्णों से है।

प्रत्येक काव्य के आरम्भ में इन तथ्यों का विचार आवश्यक होता है, लक्षण ग्रन्थों में काव्य के गुण-दोषों का विवेचन है उनमें वर्ण शुद्धि एवं गण शुद्धि भी देखी जाती है। लगभग छठी शती के आचार्य भामह ने कहा है—

अक्षरे परिशुद्धे तु नायको भूति मृच्छति।

सम्बद्ध काव्य में वर्ण शुद्धि होने पर नायक विभूतिमान् होता है। वर्ण शुद्धि के विषय में विशेष विवरण देते हुये आचार्य भामह कहते हैं—

कः खो गोधश्च लक्ष्मीं, वितरति च यशोऽङतया चः सुखं छः।
प्रीतिं जो मित्रलाभं, भय मरण करौ झ ञौ ट ठौ खेददु खे।।

डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धम्।
दोधः सौख्यं मुद नः सुखभय मरण क्लेश - दुःखं पवर्गः।
यो लक्ष्मीं रश्चदाहं व्यसनमथ लवौशः सुखं षश्च खेदं।
सः सौख्य हश्च खेदं व्यसनमथ च लः क्षः समृद्धि करोति।।

काव्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त क, ख, ग, घ, लक्ष्मी प्रदान करते हैं। 'ङ' यश देता है, 'च' सुख, 'छ' प्रीति और 'ज' मित्र लाभ देता है। 'झ' देता है भय, 'ञ' मरण, 'ट' खेद, 'ठ' दुःख, 'ड' शोभा, 'ढ' विशोभा, 'ण' भ्रमण (देशाटन) देता है। 'त' सुख, 'थ' युद्ध, 'द-ध' सौख्य, 'न' मुद। 'प' वर्ग, क्रम से सुख, भय, मरण, क्लेश, दुःख देता है। 'य' का प्रयोग लक्ष्मी प्रदान करता है। 'र' भस्म करता है, 'ल' भी दाहक है। 'व' का प्रयोग व्यसन-विपत्ति प्रदान करता है। 'श' सुख, 'ष' खेद, 'स' सौख्य। 'ह' खेद और 'क्ष' का प्रयोग समृद्धि देता है।

यह है आचार्य भामह का वर्णशुद्धि के सम्बन्ध में मत। 'साहित्य चूड़ामणि' नामक ग्रंथ में भी इसी प्रकार वर्णशुद्धि बतायी गयी है। ग्रन्थारम्भ में वकार का प्रयोग सबके मत से सदोष है। अतः जिनके हृदय प्राङ्गण में प्रभु की प्रेरणा से वाग्देवी नर्तन करती है, उस महाकवि-किरीट गोस्वामिपाद ने कवि-परम्परा में वर्जित वकार का प्रयोग अपने ग्रन्थ के आरम्भ में क्यों किया, यह प्रश्न हो सकता है।

कुछ विद्वान् प्रश्न की भावात्मक पृष्ठ - भूमि में यह कहते चले आ रहे हैं कि 'व' तन्त्रानुसार अमृत बीज है। उसका

प्रयोग, आदि और अन्त में करके गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ को अमृतमय बनाया है। यह एक ऐसा कथन है जिसकी छान - बीन किसी ने नहीं की। किसी ने भी यह बताने का कष्ट नहीं किया कि अमुक तन्त्र में यह बात है। वस्तुतः यह कथन अप्रमाणिक एवं युक्ति विरुद्ध है।

आज जो आगम-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे तीन प्रकार के हैं—वैष्णव, शैव और शाक्त। शैवों में चार भेद हैं—कापाल, कालमुख पाशुपत, और शैव। अन्तिम शैव के दो प्रकार हैं—काश्मीर सिद्धान्त और शैव-सिद्धान्त। ये सब शैवागम हैं, इनमें शिव की सर्वोपरिता तथा शिव-पूजादि का प्रधानतः प्रतिपादन है। शाक्तागमों के दो भेद हैं—दक्षिणाचार और वामाचार। दक्षिणाचार आगम प्रायः वैदिक मार्गानुगामी है, वामाचार इसके विपरीत है।

वैष्णवागमों के भी दो भेद हैं—वैखानस और पाञ्चरात्र। वैखानस-आगम में सबका अधिकार नहीं होता। पाञ्चरात्र में सब वर्णों का समान अधिकार होता है। इन आगमों को ही तन्त्र कहते हैं, इन सबमें जो भी तन्त्र उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी 'व' को अमृतबीज नहीं माना। तथ्य इसके विपरीत मिलते हैं।

वकार की तात्विक स्थिति

तन्त्राचार्य एवं काव्याचार्य दोनों मानते हैं 'व' का उद्भव जल से है, वह जलमय है सविकार है उसका देवता वरुण है।

कोषग्रन्थ इस मान्यता का आदर करते हैं। एकाक्षर कोष कहता है—'वकारो' वरुणः, प्रोक्तः, वकार वरुण का रूप है। स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार की सलिल - सम्पत्ति का स्वामी वरुण हैं। उसका निवास, वसुन्धरा पर नहीं, जल के अन्तराल में है। काव्याचार्य मानते हैं, काव्यारम्भ में वकार का प्रयोग रचना को सविकार, जलमग्न – आधार हीन बना सकता है अतः वह अशुभ है।

वैसे जल जीवन है, प्राणियों का प्राण है, पर है वह पराश्रित। धरा के योग से परिमित पानी ही जीवों का जीवन है, आश्रयहीन जल तो प्रलय का प्रतीक है, यह हम व्यवहार में देखते हैं। लोकानुभव, लोक - कहावतों में बोलता [illegible] सब पानी में बोरो,' 'सब पर पानी फिर गया,' [illegible] गया,' 'डूब मरो पानी में' इत्यादि। वकार को [illegible] कहा है। स्वच्छन्द तन्त्र के द्वितीय पटल में उल्लेख है— [illegible] जलमयः प्रोक्तः'। पुराण - प्रथा भी पोषक है, इस तथ्य का श्रीमद्भागवत के सर्वप्रथम श्लोक में ब्रह्मा को 'आदि कवि' कहा है। सचमुच यह विश्व एक महाकाव्य ही तो है। क्षण-क्षण में विलक्षण परिवर्तन - प्रवाह ही छन्दों की छवि है। काव्यों में सर्ग होते हैं, संसार तो स्वयं एक सरस सर्ग है—सृष्टि है। वेदों के आदि उद्घोषक, बहिरङ्ग विषय के आदि आविष्कारक, विश्व काव्य के प्रथम प्रणेता 'आदि कवि' पद के सर्वथा उप–युक्त हैं। वे जगत् की रचनाओं में दत्तचित्त हुये तो उन्हें सफलता न मिली, चारों ओर जल ही जल जो था। अन्ततः

प्रयोग, आदि और अन्त में करके गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ को अमृतमय बनाया है। यह एक ऐसा कथन है जिसकी छान - बीन किसी ने नहीं की। किसी ने भी यह बताने का कष्ट नहीं किया कि अमुक तन्त्र में यह बात है। वस्तुतः यह कथन अप्रमाणिक एवं युक्ति विरुद्ध है।

आज जो आगम-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे तीन प्रकार के हैं—वैष्णव, शैव और शाक्त। शैवों में चार भेद हैं—कापाल, कालमुख पाशुपत, और शैव। अन्तिम शैव के दो प्रकार हैं—काश्मीर सिद्धान्त और शैव-सिद्धान्त। ये सब शैवागम हैं, इनमें शिव की सर्वोपरिता तथा शिव-पूजादि का प्रधानतः प्रतिपादन है। शाक्तागमों के दो भेद हैं—दक्षिणाचार और वामाचार। दक्षिणाचार आगम प्रायः वैदिक मार्गानुगामी है, वामाचार इसके विपरीत है।

वैष्णवागमों के भी दो भेद हैं—वैखानस और पाञ्चरात्र। वैखानस-आगम में सबका अधिकार नहीं होता। पाञ्चरात्र में सब वर्णों का समान अधिकार होता है। इन आगमों को ही तन्त्र कहते हैं, इन सबमें जो भी तन्त्र उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी 'व' को अमृतबीज नहीं माना। तथ्य इसके विपरीत मिलते हैं।

वकार की तात्विक स्थिति

तन्त्राचार्य एवं काव्याचार्य दोनों मानते हैं 'व' का उद्भव जल से है, वह जलमय है सविकार है उसका देवता वरुण है।

कोषग्रन्थ इस मान्यता का आदर करते हैं। एकाक्षर कोष कहता है—'वकारो' वरुणः, प्रोक्तः, वकार वरुण का रूप है। स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार की सलिल - सम्पत्ति का स्वामी वरुण हैं। उसका निवास, वसुन्धरा पर नहीं, जल के अन्तराल में है। काव्याचार्य मानते हैं, काव्यारम्भ में वकार का प्रयोग रचना को सविकार, जलमग्न – आधार हीन बना सकता है अतः वह अशुभ है।

वैसे जल जीवन है, प्राणियों का प्राण है, पर है वह पराश्रित। धरा के योग से परिमित पानी ही जीवों का जीवन है, आश्रयहीन जल तो प्रलय का प्रतीक है, यह हम व्यवहार में देखते हैं। लोकानुभव, लोक - कहावतों में बोलता है—'पढ़ि-पढ़ि सब पानी में बोरो,' 'सब पर पानी फिर गया,' 'पानी - पानी हो गया,' 'डूब मरो पानी में' इत्यादि। वकार को केवल जलमय कहा है। स्वच्छन्द तन्त्र के द्वितीय पटल में उल्लेख हैं—'वकारो जलमयः प्रोक्तः'। पुराण - प्रथा भी पोषक है, इस तथ्य की। श्रीमद्भागवत के सर्वप्रथम श्लोक में ब्रह्मा को 'आदि कवि' कहा है। सचमुच यह विश्व एक महाकाव्य ही तो है। क्षण-क्षण में विलक्षण परिवर्तन - प्रवाह ही छन्दों की छवि है। काव्यों में सर्ग होते हैं, संसार तो स्वयं एक सरस सर्ग है—सृष्टि है। वेदों के आदि उद्घोषक, बहिरङ्ग विषय के आदि आविष्कारक, विश्व काव्य के प्रथम प्रणेता 'आदि कवि' पद के सर्वथा उप–युक्त हैं। वे जगत् की रचनाओं में दत्तचित्त हुये तो उन्हें सफलता न मिली, चारों ओर जल ही जल जो था। अन्ततः

आधार का अन्वेषण करना पड़ा, आधार बनी धरती पानी नहीं। विश्व के प्राणों की प्रतिष्ठा पृथ्वी के प्राङ्गण में हुई। यह घटना संकेत करती है कि जलमयता रचना को साधार नहीं बनाती प्रतिष्ठा-प्रदान नहीं करती।

आगम-ग्रन्थ-सम्पूर्ण तन्त्र-वाङ्मय इस विषय में एक मत है कि 'व' जलमय है। 'वर्ण बीज प्रकाश' ग्रन्थ में वर्णों का ध्यान वर्णित है, वहाँ वकार का ध्यान मकर की पीठ पर समुद्र के अन्तराल में किया गया है—

अब्धिस्थ पद्मनक्रस्थो द्विभुजो वः सितः स्मृतः।

मातृ का विलास ग्रंथ के प्रादुर्भाव प्रकरण में बताया—

हकाराद् व्योम संज्ञस्तु यकराद् वायुरुच्यते,
रकाराद् वह्निस्तोयं तु वकारादिति शैववाक।

—'हकार से आकाश, यकार से वायु, रेफ से अग्नि और वकार से जल की उत्पत्ति बताई है। यहां भी 'व' का जल से सम्बन्ध है'।

जल की गति अधोगामिनी होती है। हम देखते हैं 'व' का सम्बन्ध निम्नस्थ अंगों से स्थापित किया गया है। तन्त्रों में अङ्गन्यास का प्रचुर महत्व है। 'व' का जहाँ न्यास है निम्नांगों में है। उत्तमांगों में नहीं। 'मातृका भेद' तन्त्र में कहा है—

वकारं मे नितम्बं च

'महा निर्वाण तन्त्र'—में भगवती शारदा का ध्यान वर्ण माला के रूप में निरूपित हुआ है। वहाँ भी वकार की स्थिति अधोमूल में कही गयी है। पुनः षट्चक्र में मातृकान्यास है वहाँ लिङ्गमूल में स्थित 'स्वाधिष्ठान चक्र' में व' विराजमान है। पाञ्चरात्र की 'जयाख्य संहिता' में वर्णमाला से अवतारों और तत्वों के ओर सकेत किया गया है। वहाँ कहा गया है—'वकारो वामनो ह्रस्वो वराहश्च' वकार से बौने वामन और वराह का बोध होता है। वकार से पुनः वरुण का बोध कराया है। 'व' वामन, वराह और वरुण ऐसा अर्थ हुआ। यह तो कुछ ऐसा लगता है जैसे 'क' से कबूतर, कमल, कलश आदि की भाँति संकेत हो।

'मातृका-विलास'—ग्रन्थ में एक द्वादशाक्षरी - प्रकरण है। उसमें सौभरि ऋषिकृत ग्रन्थ से उद्धरण देकर बताया गया है—

वो ग्रामो वातकी वालो वारुणी पानतत्परः।
वन सेवी अथवः पंगुः ॥

सौभरि ऋषि के मत से वकार का अर्थ हैं–ग्राम, बात–रोगी, बालक, बारुणी पान में मत्त, जंगली और पंगु। ये हैं वकार के विचित्र साथी। राशियों में मीन-राशि से मित्रता है, वकार की। 'ज्ञानार्णव तन्त्र' के सोलहवें पटल में षोडशदल-कमल पर भगवती सरस्वती की विविध कलाओं के पूजन की बात है।

पूजन वर्णमाला से वर्णित है। वहाँ भी राक्षस-दिक् कोण में अनंगवेग नामक कला का पूजन य वर्ग के द्वारा बताया गया है। इस प्रकार हमें जो तन्त्रों के द्वारा जो वकार के सम्बन्ध में अर्थगर्भित संकेत मिले हैं, उनमें वकारस्थिति शुभ नहीं कही जा सकती।

'कुलार्णवतन्त्र में एक प्रकरण हैं 'महाषोढा - न्यास' उसमें भी 'व' का सम्बन्ध अभद्रशक्ति 'शाकिनी' से बताया गया है। उसी तन्त्र के 'द्रव्य संस्कार विधि' प्रकरण में पवर्ग की पाँच कलाओं का उल्लेख है और पाँच ही कला बतायी है य वर्ग की। वे हैं—

तीक्ष्णा, रौद्री, भया निद्रा क्षुधा।
तृष्णा, क्रोधनी, प्रिया, उत्कारी मृत्यु।

क्रमेण पवर्गस्थ 'ब' का सम्बन्ध भया नामक कला से है 'व' का सम्बन्ध उत्कारी और मृत्यु नामक कला से है। ये सारे संकेत व को अमृत बीज मानने के पक्ष में नहीं है।

व को अमृत बीज मानने में एक कठिनाई और है। कौन वर्ण बीज है कौन नहीं ? इसका निर्णय केवल शास्त्र करता है, हम तुम नहीं। शास्त्र में बीजत्व के सम्पादक कुछ नियम है। कुछ वर्ण तो स्वतः सिद्ध बीज माने गये हैं जैसे क्लीम् ह्रीम् जूं इत्यादि। कुछ वर्णों को बीज बनाने का एक विधान है। देव संज्ञा का जो प्रथमाक्षर होता है उसकी आवृत्ति कर ली

जाती है, आवृत्त वर्ण को विन्दु युक्त कर दिया जाता है वह बन जाता है बीज। जैसे 'हं' हनुमते नमः' इस मन्त्र में हनुमान का आदिवर्ण है 'ह'। उसकी आवृत्ति कर ली और उसको विन्दुयुक्त बना दिया 'ह' यह बन गया बीज। तीसरा प्रकार तन्त्रों में एक और उपलब्ध होता है। बर्ण माला को कुछ वर्गों में बांटा गया है, वे वर्ग कवर्गादि के नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक वर्ग को एक मन्त्र माना गया और उसके जप का विधान तथा उससे प्राप्त सिद्धि का उल्लेख है।

जिस वर्ग को मन्त्र माना जाता है, उस वर्ग के प्रत्येक अक्षर को विन्दु युक्त करने का विधान है। इस पद्धति से वर्ण माला का जो यगण है—(य व र ल) उसका रूप होगा—यं रं लं वं। प्रत्येक वर्ण बीज का प्रतीक होता है। ऐसी दशा में 'व' एक बीज हो सकता है। देवी पूजन में 'व' बीज के द्वारा ग्रास-मुद्रा से नैवेद्य अर्पण की चर्चा की गयी है। पर जब हम अपने प्रतिपाद्य विषय के धरातल पर रख कर विचार करते हैं तो उक्त पद्धतियों में से एक भी मेल नहीं खाती। वकार न तो स्वतः सिद्ध बीज है और न अमृत की ऐसी कोई संज्ञा है जिसका आदि वर्ण 'व' पड़ता हो अतः वह अमृत बीज कैसे बन सकता हैं? तुलसीदास जी ने 'वं' से न तो मानस का आरम्भ किया और न 'वं' से अवसान। फलतः बीज संपुटित ही नहीं पुनः अमृत बीज कहाँ से बन जायेगा?

ऐसी स्थिति में हमें सोचना होगा कि जिन गोस्वामिपाद ने अपने ग्रन्थ को 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' कहा है

वह आगम-असम्मत कैसे हो गया ? शम्भु-प्रसाद से सुमति सम्पन्न सुकवि-शेखर गोस्वामी जी ने कवि-परम्परा पर ध्यान क्यों नहीं दिया, क्यों आरम्भ किया वकार से ?

इस प्रश्न के सन्दर्भ में कुछ समाधान सामग्री प्रस्तुत की जा रही है, अध्ययन-सम्पन्न, मननशील तथा मत्सर-शून्य सज्जन सारासर का निर्णय करेंगे ।

कवि - कर्म में कुशल काव्य - विदों में शास्त्र-सम्मत परंपरा है । वर्ण शुद्धि एवं गणबुद्धि में एक नियम है—सर्व तन्त्रानुकूल तथा सर्वमान्य नियम । वे कहते हैं—

देवता वाचकाः शब्दा ये च भद्रादि वाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युः लिपितो गणतोऽपिवा ।।

देवता वाचक या मंगल सूचक शब्द निन्दनीय नहीं होते फिर चाहे वे लिपिगत अर्थात् वर्णगत हों अथवा गणगत हों ।

वर्णशुद्धि की दृष्टि से जो अक्षर सदोष है, वह यदि किसी ऐसे शब्द का अंग है जो शब्द किसी देवता की संज्ञा है अथवा मंगल सूचक हैं तो वह निर्दोष है । इस मान्यता का सम्मान सब साहित्यिक करते हैं ।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य का प्रारम्भ वकार से ही किया है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ।।

वर्णशुद्धि की दृष्टि से 'व' सदोष है पर वह वाक्-वाणी का अभिन्न अंग है फलतः दूषण रहित है।

वैयाकरण-शिरोमणि आचार्य प्रवर पाणिनि ने अपने महान् ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रारम्भ वकार से किया है—

वृद्धि रादैच ।१।१।१।

इस सूत्र में दो दोष आ गये। एक तो वर्ण दोष है दूसरा है उद्देश्य विधेय का व्यतिक्रम। शास्त्रकारों का नियम है—'उद्देश्य मनुद्देश्य न विधेय मुदीरयेत्'।

प्रथम उद्देश्य का कथन पश्चात् विधेय का विधान यही क्रम हैं। इस सूत्र में विधेय है वृद्धि संज्ञा, उसे पूर्व में कह दिया और जिनकी संज्ञा होगी उन्हें बाद में कहकर क्रम भंगकर दिया है। इसके समाधान में मुनि प्रवर पातञ्जलि कहते हैं—

एतदेकम् आचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्।

आचार्य का यह एक दोष क्षम्य है, क्योंकि आचार्य मङ्गलार्थ वृद्धि पद का प्रथम प्रयोग करते हैं यों कहकर उन्हें निर्दोष सिद्ध किया है क्योंकि यहां 'व' मंगल सूचक वृद्धि पद का अभिन्न अंग है।

'आश्चर्य चूड़ामणि' नाटक के रचयिता सुकवि शक्तिभद्र ने अपने नाटक का आरम्भ 'व' से ही किया है। महर्षि दुर्वासा ने भी अपने 'श्री ललितास्तव रत्न' ग्रन्थ का आरम्भ 'व' से ही किया है। उनके शब्द हैं—

वन्दे गजेन्द्रवदनं वामाङ्क रूढ़ वल्लभाश्लिष्टम् ।
कुङ्कुम पराग शोणं कुवलयिनी जार कोरका पीड़म् ।।

कवि श्रेष्ठ नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'शान्ति विलास' का शुभारम्भ वकार से ही किया है।

महाभाष्य में भूरि परिश्रम करने वाले प्रकाण्ड वैयाकरण नागेश भट्ट ने 'परिभाषेन्दु शेखर' ग्रन्थ का आरम्भ भी—'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' परिभाषा से किया है। इन सबमें समान दोष परिहार है।

मानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसी महान् परम्परा-प्रवाह में आते हैं। उन्होंने 'व' से ग्रन्थारम्भ किया पर वह वकार दोषावह नहीं रहा क्योंकि वह 'वर्ण' शब्द का अभिन्न अंग है। वर्ण शब्द की स्वामिनी शारदा है अतः देवता वाचक है, दूसरे वह मंगल सूचक भी है। 'शाश्वत' एवं 'मेदनी' दोनों कोष इसके साक्षी हैं। वहाँ कहा है—

वर्णो गुणाक्षर यशः शुक्लादि ब्राह्मणादिषु ।
वर्णः स्तुतौ कथायां च वर्णः स्याद् भेदरूपयोः ।।

—शाश्वत

वर्ण का अर्थ है गुण, अक्षर, यश शुक्लादिरंग ब्राह्मणादि स्तुति एवं कथा आदि। आचार्य पाणिनि ने वर्ण शब्द का अर्थ अधिक गम्भीरता से किया है। उनके मत से वर्ण का अर्थ है 'दीप्ति - कान्ति'। वर्ण समाम्नाय पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों के मुख पर जो तप अध्ययन तथा ब्रह्मचर्य से उत्पन्न ब्रह्मवर्चस्व-

ओज झलकता है, वह है 'वर्ण'। वह जिसमें है, उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। उन्होंने एक सूत्र लिखा—'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि'। इससे 'वर्णी' शब्द को निष्पन्न किया है। इन संकेतों से स्पष्ट है कि वकार 'वर्ण' शब्द का अभिन्न रूप होकर निर्दोष बन गया है।

पर इस शंका का एक अन्तरंग पक्ष भी है। गोस्वामी जी ने प्रथम 'व' का प्रयोग जान बूझकर किया है, बुद्धि पूर्वक किया है। इसमें उनका एक शास्त्र सम्मत अनुभूत अभिमत है। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि 'व' को सभी तन्त्रों ने जलमय बताया है। तुलसीदास जी को यह जलमयता अभीष्ट है। यह ठीक है कि वह रचनारम्भ में निषिद्ध है पर कहीं - कहीं— **'दोषहु गुण सम कह सब कोऊ'** वाली बात सिद्ध हो जाती है, तथा **'होहि कुवस्तु सुवस्तु जग'** यह भी संसर्ग-महिमा है सन्त-तिलक श्री तुलसी ने जलमय वकार का सम्पर्क भूमि से कर दिया है। सब विद्वान जानते हैं कि गोस्वामी जी ने ग्रन्थारम्भ से 'मगण गण' रक्खा है। इस वर्ण का देवता भूमि है और उस का फल है लक्ष्मी। इस तरह वर्ण है जलमय और गण है भूमिमय। जल-भूमि का संयोग लक्ष्मी का शोभा का जनक होता है, वसुधा का श्रृंगार होता है—

ससि सम्पन्न सोह महि कैसी।
उपकारी की सम्पत्ति जैसी ॥

सुकवि-शेखर जिस महान् ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं वह है 'रामचरित मानस'। नाम से स्पष्ट ही सजलता झलक रही

है। सुमति भूमि पर मधुर मनोहर मंगलकारी राम यश रूपी सलिल बरसा, वही उमंग कर कविता बन गया।

गोस्वामी तुलसीदास जी का आविर्भाव भी सजलता में हुआ, श्रावण शुक्ल सप्तमी के दिन बरसती बूंदों की बौछार में धरती के आंगन में आंखें खोली थीं। चारों ओर सजलता का साम्राज्य था तथा इस सरसता का अनुभव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया उन्होंने। भगवान की भक्ति को वर्षा के रूप में देखा—

वर्षा रितु रघुपति भगति।

उन्होंने प्रेम को भी जल के रूप में देखा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाई।

उनके मानस के महान आचार्य भूत भावन भगवान शंकर सजल मस्तक से सघन सजलता के स्वरूप नागराज हिमालय के आसन पर बैठकर कथा कहते हैं। 'काक भुशुण्डि' नील शिखर पर सरोवर के तट पर मानस प्रसंग चलाते हैं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज त्रिवेणी तट पर मानसावगाहन करते हैं। गोस्वामी जी ने जितने भी महत्वपूर्ण प्रसंग उठाये हैं उन्हें वर्षा के रूपक द्वारा ही सजल बनाया है।

मानस में सन्त प्राण हैं और मानस सन्तों का प्राण है, सर्वस्व है। उन सन्तों को कभी बादल बताया गया—

वेद पुरान उदधि घन साधू ।।

कहीं उन्हें गंगा-यमुना-सरस्वती की धाराओं से धुले पावन प्रयाग के रूप में अंकित किया है—

मुद मङ्गल मय सन्त समाजू ।
जो जग जंगम तीरथ राजू ।।
राम भगति जहँ सुरसरि धारा ।
सरसई ब्रह्म विचार प्रचारा ।
विधि निषेध मय कलिमल हरनी ।
कर्म कथा रवि नन्दिनि वरनी ।।

उन्होंने काव्य की मर्म-मधुर व्याख्या को कैसी सजल भाव-भूमि दी हैं, देखते ही बनता है—

हृदय सिन्धु मति सोप सुमाना ।
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ।।
जो बरसइ बर बारि बिचारू ।
होइ कवित मुकतामनि चारू ।।

इत्यादि ।

अपनी कविता को गोस्वामी जी ने सरिता कहा है—

चली सुभग कविता सरिता सो ।

श्रीराम का महान समर शोण-नद के रूप में वर्णित हैं—

सानुज राम समर जस पावन ।
मिलेउ महानद सोन सुहावन ।।

उनकी दृष्टि में राम का रूप भी सागर है—

राम स्वरूप सिन्धु समुहानी ।

मानस में प्रत्येक सोपान पानी में डूबा हुआ है। प्रत्येक कांड में, काण्ड के प्रत्येक प्रमुख प्रसङ्ग में वर्षा के रूपक शतशः वर्णित हुए हैं। लेख का कलेवर विपुल हो, यह हम नहीं चाहते। केवल इस विषय में तथ्य की ओर संकेत भर किया है। विज्ञ लोग अच्छी प्रकार समझ सकेंगे।

वकार का व्यापक विधान

प्रभु का अमल अंश जीव प्रथमतः जहाँ प्रवेश करता है, जिसे वह अपना कर्म क्षेत्र बनाता है और जहाँ वह निवास करता है, उस स्थान का नाम है—'विश्व'। विश्व शब्द तुदादिगण की विश धातु एवं उणादिगण के 'क्वत' प्रत्यय से निष्पन्न होता है। प्रत्यय का अवशिष्ट अंश रहता है, व फलतः विश्व शब्द जिस प्रकृति प्रत्यय से बनता हैं, उसके आदि अन्त दोनों छोर वकार से वेष्टित हैं। यह है विश्व के साथ वकार का घनिष्ठ सम्बन्ध। इस विश्व को वेदान्त बताता है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्मा' ब्रह्म व्यापक है विश्व में और वकार अनुस्यूत है उन दोनों में। विश्व और ब्रह्म दो तत्व आये सामने। जीव तीसरा है, इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? इसका निर्णय करते हैं 'वेद'। वेदों के वरिष्ट वेत्ता है, ब्राह्मण। वैसे गुण कर्म विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार हैं, पर इन चारों को जिस शब्द से

पुकारा जाता है वह एक है 'वर्ण'। सूत्र की तरह वकार सबके साथ रहता है, पर इनमें वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ तो प्रत्यक्ष संश्लिष्ट है। चार आश्रम हैं, उनमें प्रथम एवं मूल रूप आश्रम है, 'ब्रह्मचर्य'।

इन विविध विधानों का बनाने वाला है विधाता, ब्रह्मा या विधि। विधि की विनय पर विश्व - बन्धु ब्रह्म विश्व में बिहार करने आया, तो वेद - वेद्य प्रभु के साथ उनका गुणगान करने के हेतु वेदों ने भी अवतार लिया। बाल्मीकीय रामायण के रूप में—

वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेद प्राचेतसादासीत् साक्षात् रामायणात्मना॥

महा वैयाकरण महर्षि पाणिनि ने अपने गहादिगण में 'वाल्मीकीय' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए 'बाल्मीकि' शब्द का पाठ रक्खा और उस वेदावतार रामायण के द्रष्टा का नाम खोला। वहाँ भी 'व' साथ ही लगा है।

काव्य जगत् में श्री रघुकुल केतुकी करुणा के अवतार विनय मूर्ति पूज्य गोस्वामिपाद तुलसीदास को भक्त माल के गूंथने वाले भक्त प्रवर 'श्री नाभा जी' ने बाल्मीकि का अवतार बताया है—

कलि कुटिल जीव निस्तार हेतु बाल्मीकि तुलसी भयो।

बाल्मीकि की प्रशंसा में कहा गया है—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविता शाखां वन्दे बाल्मीकि कोकिलम् ।

"कविता की डाल पर बैठकर मधुर - मधुर राम नाम का कल कूजन करने वाले बाल्मीकि कोकिल की वन्दना करता हूं ।"

बाल्मीकि कोकिल हैं तो उनके अभिन्न रूप गोस्वामी जी कोकिल क्यों न हों ? उन्होंने अपने लिये मानस में स्पष्ट संकेत दिया है ।

खल परिहास होइ हित मोरा ।
काक कहहिं कल कण्ठ कठोरा ।।

अतः ग्रन्थ के रचयिता बाल्मीकि अवतार, ब्राह्मण और वैष्णव-शिरोमणि हैं, क्यों न वकार से ग्रन्थारम्भ करते ?

कुछ भावात्मक भंगिमा से भी विचार कर सकते हैं । मानस में वैसे सप्त सोपान हैं पर प्रसिद्धि दो कांडों की अधिक हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड इत्यादि । ग्रन्थ का प्रथम कांड है बालकाण्ड । इसमें भगवान के दो गुरुओं का उल्लेख है—एक हैं वशिष्ठ दूसरे हैं—विश्वामित्र । वशिष्ठ कराते हैं यज्ञ । वशी-भूत होकर ब्रह्म, विश्व के बन्धन विमोचन करने भाव बन्धन आ गया । विश्वामित्र करते हैं वृहस्पति यज्ञ । बाधा डालते हैं

विश्व विरोधी। विश्व प्रेमी विश्वामित्र विश्वात्मा को बुलाने गए। वशिष्ठ के बोध देने पर बन्धुद्वय मिल गये। विघ्न–बाधाएं विलीन हो गयीं। बाट में विषाद - विह्वल वनिता को विशेष वेष दिया, बिदा दी, विचरण करते विदेह नगरी में विश्वामित्र के साथ विराजमान हुए। वहाँ बाग में विश्राम किया। विदेहराज, विश्वामित्र की वन्दना करने आये। बन्धुओं को विलोका तो विदेह विशेष विदेह बन गये, विवेक - विस्मृत हो गया। विलोचनों से वारि बरसने लगा। ब्रह्म को बालकों के वेष में देखकर विस्मय विमुग्ध हो गये। विश्वामित्र ने बलधाम बन्धुद्वय का विशेष बखान किया। बुला ले गये वास स्थान में। विदेह नगर की वधूटियाँ वर बन्धुओं को विलोक कर बिकी-सी रह गईं।

बन्धुद्वय विदेह - वाटिका में विचरण करते हैं। वहाँ विलोका वैदेही को, बेचारे वेहाल बन गये बड़ बन्धु। वैदेही ने विनय पूर्वक वन्दना की वामदेव बामा की। वन्दनीया ने वरदान दे दिया बढ़िया वर पाने का तो वैदेही के—'वाम अंग फरकन लगे।'

बन्धुद्वय वापस आये विश्वामित्र के पास, बड़े बन्धु तो बिके-से विकल से, थे विनीत। विश्वामित्र ने बात बना दी वरदान देकर।

वैदेही के साथ विवाह में बाधक था वामदेव का धनुष। बड़े-बड़े बलवान वीर बेकार बन गये बंभोला के विकट पिनाक

पर। विदेहराज वसुधा को वीर - विहीन बताकर बिगड़ने लगे, विलाप-सा करने लगे कि विधाता ने वैदेही का विवाह ही नहीं बनाया, वैदेही भी विपुल विकल थीं।

बस, विश्वामित्र ने बल दिया विक्रम बताने का तो वरदानी, विनयावतार, बहादुर, बड़े बन्धु ने विखण्डित कर दिया, विशाल धनुष को। विमानों से बरसने लगीं वर मालाएं। बन्दीजन विरद बखानने लगे। विवुध वधूटियाँ बार - बार बलिहार होने लगीं। वैदेही ने विजय माला वर के कण्ठ में विराजमान कराई।

बात बढ़ाना बेकार है। बरात बनने ठनने लगी—'बरन बरन वर वाजि विराजे' विरुदैत वीर बन बैठे बाजियों पर। विविध विधान के वाहनों पर विप्र वृन्द बैठ गए। वेसर व वृषभों पर वस्तुएँ बाँध दीं। विचित्र थी बिना वर की बरात वह। बस—

'बनइ न बरनत बनी बराता।'

बरात को वास दिया गया, वसन बिछाये गये वाट में। वासव - सा वैभव था वास स्थान में। बेचारे बराती बखानते रह गये विभव को।

विवुध आये विवाह देखने। विदेह नगरी के विविध विधान पर बनाव पर विधाता बेचारे विस्मित थे विमूढ़ थे। वह तो बम्भोला ने बुझाकर बात बना ली।

बस, वर वेष में विहंस उठा विधु वदन—

ब्याह विभूषण विविध बनाये ।

बर बाजी पर विराजमान वर का बाँका वेष विमोहित कर रहा था। बाबाओं को, विवुधों को। बुद्धिमानों को और बेचारी बनिताओं की तो बात ही क्या !

वेद विदित विधि से विवाह हुआ। विविध व्यञ्जनों की वहार में बेचारे बराती 'वाह-वाह' में बूड़े हुए थे। वहुओं की विदा ! बरात की विदाई। बीच-बीच में वास करते हुए बरात लौट आई वर घर में।

बाजार वनाया गया और—

'विविध विधान बाजने बाजे।'

बस, बालकाण्ड का विराम है। बताइये वकार के बिना बनी बनाई बातें बेकार बन जातीं।

विचित्र बरात, विश्व - विभूषण बाँका वर, विश्व वन्दनीय वैदेही का विवाह - विलक्षण वर्णन का वखान कर वानी विमल बन गयी बाबा की।

निज गिरा पावन करन कारन रामजस तुलसी कह्यो ।

अब आता है अवधकाण्ड। वहाँ भी वकार का विचित्र विलास विद्यमान है। विमल वंश के विभूषण वीर बन्धुओं के विषय - विराग का विशद वर्णन है। वसुमती पति ने वासव - से

बढ़कर विशाल वैभव को विभूषित करना चाहा बड़े बेटे को वसुधाधिप बनाकर।

विवुधराज विकल हो गया, वह वाटिका-बिहारी को बन बिहारी बनाने का विचार करने लगा। बैठकर वीणा-विभूषित वाणी की वन्दना की, विनय की। वह विपुल-विहंग-विभूषित बाग में बाज बनकर आई, बिगाड़ गई बाग की बहार को।

विधि वाम की करनी कठिन सो मातु कीन्ही बावरी।

विधाता की बामता से बावरी वामा ने वरदानों के बल पर वरबस बनवास दे दिया बड़े बेटे को। बारहबाट कर दिया, वह भी एक वक्र काया के बहकाने पर। विपत्ति का बीज बो दिया। वर्षा बन गई वह विपरीत बुद्धि वक्रा। बना ली गई विलोचन विन्दु, बड़ी बड़ाई की गई—

बार बार बड़ि बुद्धि बखानी।

जिसके बलिष्ठ बाहुबल से वासव विहार करता था, बागों की बहारों में। बाधा - विहीन वास करता था, वह वसुधा नरेन्द्र भी वसुन्धरा पर विकृत वेष धारिणी विकृत वसन वेष्टिता वामा को देख विषण्ण बन गया। वरोरू से बार - बार विनय की! विनय बेकार थी विवेक-विहीन बज्र बुद्धि पर। वेणु-बन में बह्नि बनकर बर उठी वह। बड़ा विषाद ब्याप गया। बात बिगड़ गई। बनिता-बन्धु समेत बनवासी बन गया ब्रह्म। वह भी विशिष्ट बनवासी!

तापस वेष बिसेषि उदासी ।
चौदह बरिस राम बनवासी ।।

वेश कीमती वस्त्रों का विमोचन कर वल्कल - वेष्टित बन गए। वहाँ के वासियों को विछोह में बिलखते छोड़ बन को चल पड़े । विरक्त विमुक्त वानप्रस्थ बनवासी बेचैन बन गये । वहाँ विन्ध्याचल बन गया वन्दनीय । उसके वैभव का बखान होने लगा । विशेष विमुग्ध का वहाँ बिना श्रम विपुल बड़ाई ने वरण किया । बैठे-विठाये को । विवुधों का वन्दनीय बन गया—

बिन्ध्य मुदित मन सुख न समाई ।
बिनु श्रम बिपुल बड़ाई पाई ।।

वन - विहारी श्रीराम का वास - स्थल बन गया था वह बताइये वर्णनीय क्यों न बनता ? विगत बैर बहुरंग विहंग बिहार करते थे वहाँ ? विटपों पर बेलें वेष्टित थीं ! वट की छाया में वैदेही के वन्दनीय करों से बनी वेदिका पर विराज-मान थे विभु । वेद बचनों से बिदूर ब्रह्म विमुग्ध था वनचरों के वचनों पर ।

वहाँ वैभव - विरक्त विरही वन्धु, बन्धु वियोग में विह्वल होकर आया वापस बुलाने के लिये । विश्वात्मा ने बरबस बाहों में वेष्टित कर लिया । पर वरिष्ठ बाप का बेटा वचन विमुख कैसे होता ? वापस नहीं हुआ । विलक्षण बन्धु ने ब्रह्म के वियोग में वमनवत् त्याग दिया वैभव को, विलग रहे विषयों

से। विषम-व्रत विलोक कर विस्मय में विमूढ़ बन गए बनवासी बाबा। विश्व-विलक्षण वर बन्धु के वैराग्य की विमल विभूति बन्दनीय थी। उनका व्रत से विशद वेद विदित व्यवहार विमल था—

बाप के वचनों से विचलित न होने वाले बन्धुद्वय का वैराग्य, विवेक विभूति वर्णनातीत थी। बन्दना है विमल वंश के विमल-बन्धु की।

आरण्यकाण्ड तो वनकांड ही है, वकार वहाँ विविध वेष में विचरण करता है। विमूढ़, विमुख, विमोह, विदग्ध वासव-सुत वायस बनकर वीराग्रणी विभु के विपुल बल की बानगी लेने पहुंचा। बेसमझ ने वितुण्ड से विदीर्ण कर दिया बैदेही के वन्दनीय पादारविन्द को। विघूर्णित विलोचन से विलोका विश्वात्मा ने। विकट ब्रह्म सर का विमोचन किया। बेचारा व्याकुल विलपता ब्रह्मधामादि गया, पर विभु-विमुख को विश्राम कौन देता? बस विकल वायस को ब्रह्मा के वैरागी बेटा ने विधि बतलाई। बच गया बेचारा वाण से। बस बेचारे का एक विलोचन विलट गया।

वनों में विचरते बढ़ते गये। बाबा की बात मानकर बटों की छाया में वास-स्थल बनाया। वहाँ भी बड़ी बुराई बन गई। विश्रवा के बेटा की बेशर्म बहन वेष बनाकर आई। लगी विवाह की विनती करने। बड़ा बुरा लगा विशुद्ध बन्धुओं को। वह बताने लगी, विवाह का विधान तो विधाता ने बनाया है—

यह सजोग बिधि रचा बिचारी ।

विचार विहीन विधवा का वह विनोद बड़ा बुरा बैठा। बेचारी विनासा होकर विद्रूप बन गई। बेचारे बैठे - बिठाये बन्धुओं को विरूप - रूप दिखाकर विलाप किया और वध के लिये बहकाया।

विरोध में बढ़ते हुये विद्रोहियों की विपुल-वाहिनी का विनाश, विभु के विकराल वाणों ने व्याल बनकर कर दिया। बरबाद हो गये विश्व द्रोही।

बन्धुओं को विनाश की बहिया में बहाकर विरूप बहन ने विप्र-द्रोही विश्व-विरोधी बीस बाहु वाले बड़े बन्धु को भी वध का बाँयना बाँट दिया। विलज्ज होकर विपुल विलाप किया। बीस बाहों से विरूपा को उठाकर विश्वास दिलाया। वैदेही-हरण की बात बैठ गई बेईमान की बुद्धि में। विनाश का बिगुल बज गया। ब्रह्म से बैर बढ़ाने के वास्ते पैर बढ़ाया। इधर वैदेही - वल्लभ ने वैदेही को बह्नि में वास देकर वाह्य वियोग का विधान बना लिया—

बाहिज चिन्ता कीन्हि बिसेषी ।

वैदेही - वियोग का बानक बन गया। बीस-बाहु बीस विलोचनों से भी बूझ न सका विश्वात्मा के इस बने - बनाये बानक को। वारिधि पार वाटिका में बिठा दिया वैदेही को। इधर वैदेही विरह में विकल विभु बन्धु के बार - बार बुझाने पर

भी वन-वीथिकाओं में विलाप कर विषण्ण बनाते रहे विलोकने वालों को। वेल-विटपों से विलाप करते थे कि बताओ विदेह-वंश वैजयन्ती को। बेचारे वे क्या बोलते ?

बाट में विलखते विकल विहंग को विमुक्त किया, वन-वासिनी के बेर खाये बार - बार बखानकर, विश्व के विविध विपत्ति जाल से बेड़ा पार किया बेचारी का।

विशेषतः वैदेही का वियोग। विश्वात्मा का वनों में बिरह-विह्वल विलाप के द्वारा विरक्त बाबाओं को विविध बेधन - बास बनकाण्ड का विवरण विराम लेता है।

बहिरंग विरही वैदेही-बल्लभ का बार बार वन्दन।

किष्किन्धा काण्ड में तो वकार बड़ा बलवान है, विश्व विदित है कि वनों में बिचरने के बाद विश्व बन्धु ने वानरों को बन्धु बनाकर विपुल बड़प्पन का अनुभव यहीं किया। विचित्र बात थी कि विश्वात्मा के बल की परीक्षा का विधान बनाया विभव बिमुक्त बानरराज ने वाण द्वारा वृक्षों का वेधन कर वसुन्धरा को विदीर्ण कर दिया, यों विशिष्ट बोध दिया बल–विक्रम का विश्वास हुआ, विवेकोदय विविक्त वासी, विभव - बिहीन बानर को बनाया अपना बन्धु।

तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।

विशाल बल देकर विपुलग्रीव सुग्रीव को वालि के विरुद्ध भेजा। विभु विटप ओट से विलोकते रहे। बलहीन वानर वगलें बिलोकने लगा। वीर राम ने विकराल बाण से विरोधी वालि के वक्ष को विदीर्ण कर दिया। वसुन्धरा पर बिखर पड़ा वीरवर बालि। विश्व - बन्धु को विलोक - विलोक विषम बुद्धि एवं व्याधवत् बतलाने लगा विभु को। बाद में बन्धु - वधू विभ्रष्ट बताकर बालि की बुद्धि में विवेकोद्बोधन किया। विनयी बन गया वह। बलिष्ठ बेटा की बाँह विभु की बाहों में सौंप दी। बालि विमुक्त हो गया। वामा ने विविध विलाप किये। विश्वात्मा के बोध देने पर उसे विश्राम मिला।

विप्र वृन्द को बुलाकर वानरराज़ बनाया गया सुग्रीव को।

वर्षा काल आ गया। बरसती वारिधाराओं में वैदेही के विरह से विलोचनों से वारि बरसाते हुए विभु ने विविध विधि से वर्णन किया है वर्षा का, बादलों का, बहती हुई बियार का, बौछारों का, वृष्टि से बिगड़ी वसुन्धरा का, वेग से बहती वारि वहन शिलाओं का, वायु के वेग से बिलाते हुए बादलों का। बहाने से विवेक, वैराग्य, ब्रह्म-जीव आदि का, विविध वादों का, वेदपाठी बटुओं का वृष्टि-विभ्रष्ट वसुधा के द्वारा विचलित बामाओं का वर्णन भी किया। वर्णाश्रम-धर्मों का भी विवेचज किया।

वर्षा विगत हुई, बादल बरस कर विलीन हो गये। विभु को वैदेही का विरह बार-बार विह्वल बनाने लगा। विषय-

वश, विस्मृत वानरराज को बोध दिया विभु के बन्धु ने । विस्मरण का विवेक हुआ । बानरों को बुलाकर वैदेही के विशोध में विविध दिशाओं में भेजा ।

वायु - तनय, बालि - कुमार आदि वीर भी विदा हुये, बालिके आत्मज को विभु ने विशिष्ट विभूषण दिया । बल-विरह का बोध देकर वेग ही वापस आने की बात बताई । बनान्वेषण में वारि के बिना व्याकुल हो गये बानर । वायु-पुत्र ने बुद्धि दी, विवर प्रवेश किया । वारि मिला, विशेष बल मिला । वहाँ मिली एक बाई । उसने वृत्तांत विदित कर विलोचन बन्द कराके बानरों को विवर से बाहर किया, वह विभु को विलोक बदरी बन को विदा हो गई ।

बानरों ने विलोचन खोले तो वारिधि बेला पर थे वे । विस्मित थे बानर । विषण्ण भी थे क्योंकि वैदेही - विशोध की विशिष्ट अवधि बीत चुकी थी । बानर राज के द्वारा बध होगा, बड़ी विभीषिका थी यह ।

बैदेही के बचाने में बिसर्जित होने वाले बिहंगराज का बड़ा बन्धु मिला वारिधि - बेला पर । उसने विश्वास दिया, विवेक दिया, वैदेही की बात बताई । बताकर विहंगवर वायु वेग से विलीन हो गया वायु पथ में । वानर विस्मित थे, बस विचार-विमर्श करने लगे । वारिधि का विलघंन करनें वाला विशिष्ट वीर कौन है, विशेष खोज हुई । बानर बल बखानने लगे, व्यर्थ का वर्णन । बाद में बड़े-बूढ़े बोले—वत्स वायु पुत्र !

वायु के बराबर वेगवान एवं बली हो । वीरात्मा की बल विभूति, वाग्वैभब, बलिण्ठ बाहु - दण्ड, विभु के विभूषण हैं, विश्व - विरोधियों के वन खण्ड में विकराल विधूम - बह्नि-निक्षेप है ।

वारिधि का विलंघन कर वैदेही का विमार्गण करो । विश्वात्मा का बल - वैभव बताकर विदेहकुमारी को बोध दो । विश्वास दिलाओ । बाद में वीराग्रणी विमल वंशावतंस विश्व-बन्धु बीस बाहु का बधकर वैदेही को विजयी बना वापस लायेंगे । बस, वातात्मज का विस्मृत बल बाहु - दण्डों में विहार करने लगा । विधूम वह्निवत् विज्वलित वायु-नन्दन बानर-वाहिनी के विजयध्वज बन गये ।

सुन्दरकाण्ड में वेदान्त वेद्य ब्रह्मादि वन्दित विभु का बन्दन है । विपल बलधाम, बोध विग्रह वानराकार बामदेव की बन्दना है । विपुल बलशाली बजरंगी, बार - बार बीरवर राम का । बन्दन कर बिना विश्राम विलंघन करते हैं वारिधि का । बीच में विघ्नों ने बाधा डाली, वध कर डाला विघ्नकारियों का बारिधि - बेला पर वन - वैभव बिखरा था । वहाँ वसुधा-धर से बिलोका, बहु-रूप बलवान बैरियों के वरूथ से विराजित, बहु विधि बने, बन बाग - वाटिका वापी, बाट - बीथिकाओं से विमण्डित, एवं वरुणालय वेष्टित बैरियों के विचित्र वास स्थान को । बिलकुल वृष-दंशक वेष बनाया । विलोक कर विकटा-कार वामा ने विताड़ित किया वातात्मज को । तो वीर ने

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बाम बाहु के विकट चपेटा से विकल बना दिया बेचारी को। ब्रह्मा के वरदान की बात बताने लगी। बच गई बजरंगी के बाहु-दण्ड से। वातजात बढ़कर विचार करने लगे, बात कैसे बने! बस, विभावरी बीत गई, विहीन में विभीषण विभु के वर्णन में वाणी को विभूषित करने लगे। बजरंगी ने विप्र वेश से बातें की। विभीषण ने विधि बतलाई। वातजात बढ़कर वैदेही के वृक्ष पर बैठ गये, बैरियों के विलोचनों से बचकर। विषण्णा बैठी थी वैदेही, विकराल वेष वैरि-वामाओं से वितर्जित। बार-बार विधु-वदन को विलोचन वारि से विमार्जित बना रही थी। वह्नि के लिये विनय कर रही विटप से। वहाँ बैठे वात-जात ने विरहाकुल वैदेही के विश्वासार्थ विभु का विभूषण दिया। विरह - विधुरा वैदेही को विशेष विश्वस्त किया। विदेह तनया से विदा लेकर बन में गये, वन का विध्वंस किया। विरोधियों का वध किया। वारिद नाद को बल - विक्रम से बेहाल बना दिया, बेकार कर दिया विकराल विषधर - पाश को। बार दिया विद्रोही के विचित्र वास स्थान को। बानराधीश के बल विक्रम को विलोक कर विरोधी बौरा गये। बाद में विदेह तनया से विभु के विश्वासार्थ विभूषण लिया। वारिधि विलंघ कर वानर - वाहिनी में विहँसते हुए विराजमान हो गये। विश्वात्मा का वन्दन किया, वैदेही की विशाल विपत्ति बताई। विरह - विमग्न विभु वानर - वाहिनी को बुलाकर वारिधि - बेला पर जा पहुंचे।

बीस - बाहु के विशिष्ट बन्धु विभीषण ने विश्वबन्धु की बाहु - छाया में विश्राम लिया। विभव - विहीन बन गया बीस

बाहु। वारिधि - बन्धन की विधि का बोध हुआ, विराम है बात-जात के विक्रम कांड का।

विकराल - विग्रह वज्रधार, वेदान्त - विद्, विविध विद्या-विशारद, वेद-वेदांगविद्, ब्रह्मवादी विश्व वन्द्याग्रणी, विश्व विख्यात विक्रम, वृहद् बाहु-बल, विपुल विशाल बालिधि वाले वातात्मज के द्वारा वैदेही की विपत्ति विचार कर बिना विलम्ब वारिधि - बन्धन का विधान बना। विग्रह वान वारिधि के बोध देने पर विश्वकर्मा के बेटे ने वन निधि पर विशाल विश्व - विश्रुत बांध बांधा। वानर-वाहिनी विनोद में विमग्न वायु पथ से बांध से व वारिचरों पर विचरते वा पार हुये।

वीराग्रणी विभु वानराधीश पर विराजमान होकर वारिचरों को विलोचनों का विमोद बाँटते हुये बाँध से वा पार हुये। वहाँ बन्धु के द्वारा विविध विधि से विशिष्ट एवं विभिन्न वस्तुओं से विभूषित बनाकर बिछाये गये वरासन पर विराजमान हुए विश्व - बन्धु। बुद्धि - बल सम्पन्न बालिकुमार को विशिष्ट वरदूत बनाकर विवुध बैरी को बोध देने के लिये भेजा। बैरी का बल बिलोड़ित कर वापस आये।

विभु के बिकराल बाणों की वृष्टि में बैरियों के वरूथ बूड़ गये— 'वर्षा घोर निसाचर रारी' बीस - बाहुओं व बीस-बिलोचनों वाला विश्व - विद्रोही वसुधा पर विलुण्ठित हुआ। उसकी बनिताओं ने वक्ष विताड़ित कर विपुल बिलाप किया।

विभीषण ने बोध देकर विलग किया। वैदेही बुलाई गई वह्नि में विशुद्ध बनाकर विमान पर बैठे विशेष बानरों के साथ वापस आये। विश्रवा के वरिष्ठ विकट विद्रोही बेटे के वैभव का भोगी वसुधाधिराज बना विभीषण। बस, लंकाकाण्ड का वीर शिरोमणि, विश्व - वसुधाधिराज विभु के बाण - विक्रम का बोधक कांड विराम लेता है।

विरह-वारिधि में विमग्न विश्व - भरण पोषण - विधायी बन्धु को विशिष्ट सन्देश दिया विप्र वेश वातात्मज ने। वातजात के वचनों से वियोग-जन्य विपत्ति के बादल बिखर गये। वीरमणि-विश्व-बन्द्य विभु, बन्धु-वनिता समेत विमान से वापिस आये, बालक बृद्ध वनिता वृन्द विह्वल हो गये बिछुड़े विभु को विलोकने के लिये।

विमान से उतर बशिष्ठ की बन्दना की, वातावरण में बहार आ गई। सरयू का वारि विमल बन गया। विमोहनी बयार बहने लगी। वामदेव वशिष्ठादि वरिष्ठ विप्रों ने विभु को विश्व के शासन के हेतु वरासन पर विराजमान कराने का विचार किया। विदेह नन्दिनी के सहित बिराजमान कराये गये विशिष्टासन पर। विविध वाधियों से, वारि-वाहिनयों से बिमल वारि लाया गया। विशिष्टाभिषेक हुआ। वेदों ने त्रिविध विधान से बन्दना की।

वन्दे वाणी विनायकौ

●

शंका

गोस्वामी तुलसीदास जी के इष्ट तो श्री सीताराम जी हैं, ग्रन्थारम्भ में प्रथम वन्दना उन्हीं की उचित थी, ऐसा न कर उन्होंने वाणी - विनायक की वन्दना की, यह बात एक अनन्य उपासक के अनुरूप नहीं जान पड़ती।

समाधान

हमें लगता है कि इस शङ्का से दो पात्र शङ्कास्पद बन जाते हैं—वन्दनीय विनायक एवं वन्दना - विनायक। प्रथम पात्र की दृष्टि से शङ्का का रूप होगा कि क्या वन्दनीय विनायक में उस पात्रता का अभाव है जिसके कारण वे प्रथम वन्दनीय के आसन पर बैठ सकते थे। द्वितीय पात्र की दृष्टि से शङ्का का स्वरूप होगा कि क्या अन्य की वन्दना से उपासक अनन्य नहीं रहता वह अन्याश्रयी हो जाता है और क्या यह बात गोस्वामी तुलसीदास जी पर लागू होती है।

मानस में विनायक वैभव

(१) पहले शंका का प्रथम अंश विचारणीय है। गोस्वामी पाद ने बन्दना में पर्वत तनया पार्वती की अचल श्रद्धा के रूप

में और शिव को विश्वास के रूप में उपस्थित किया है । गणेश जी इन दोनों के पुत्र हैं । इनका हृदय है श्रद्धा - रूपा पार्वती का और मस्तक है विश्वास रूप शिव का । यह तथ्य गणेश जन्म की कथा से स्पष्ट है । भगवती गिरिजा के दिव्य अङ्गराग से, उबटन से श्री गणेश की सुहावनी आकृति रची गई, कुतूहलवश । सखियों के अनुरोध पर आकृति में प्राण-संचार किया गया । दिव्य बालक, परम सुन्दर पार्वती - पुत्र माँ के अभिमुख नत मस्तक हुआ माँ ने कहा—'प्रवेश द्वार पर पहरा दो' । पार्वती का नूतन सपूत द्वार पर जाकर सतर्क प्रहरी बनकर सगर्व चहल - कदमी करने लगा । सहसा भगवान शिव का प्रवेश होता है, वे रोके गए उनका रोष उभरा उन्होंने गणराज के मस्तक को उड़ा दिया । गिरिवर कुमारी शोकाकुल हुईं तो समर्थ शंकर ने गणराज के धड़ पर हस्तिशावक का मस्तक रख दिया, अमृत - वर्षिणी दृष्टि का योग पाकर प्राणों का संयोग हो गया और वे खड़े हो गये । गजानन बन कर । माँ ने दौड़कर गोद में बैठा लिया स्नेहाकुल हृदय से, शिव ने कल्याणमय कर - कमल फेरा मस्तक पर, दोनों के प्रीति पात्र बन गये ।

इस कथा से जो रहस्य रस, मथित तथ्य सामने आता है—विनायक का हृदय है श्रद्धा समुद्भूत, मस्तक है विश्वास विचरित । श्रद्धा और विश्वास का सार संगम, दोनों का मधुर मिलन है गज बदन विनायक । कोई कितना ही बड़ा कर्मकाण्ड का पण्डित हो, विज्ञान विमार्जित गहन ज्ञानी हो या उपास्य पाद परिचर्या में परम प्रवीण, स्नेह स्नात उपासक हो, बिना उक्त दो तथ्यों को

प्रथम मान्यता दिये सफल नहीं हो सकता। सर्वप्रथम अपने पूत हृत्पट पर गणेश का आसन लगाना होगा। हृदय-कमल को श्रद्धा-विश्वास की सुरभि से सुरभित करना होगा तभी समीप आयेगा आराध्य-भ्रमर। इस तात्विक दृष्टि से विनायक का प्रथम वन्दन अभिनन्दनीय है निन्दनीय नहीं।

(२) यदि हम मानते हैं कि वे पार्वती-पुत्र हैं, विग्रहवान् विशिष्ट देव हैं, तब भी वे प्रथम वन्दनीय हैं, क्योंकि वन्दनीय का समग्र गुण-गौरव पूज्य गजानन में जागरूक है। लोक उसके सामने श्रद्धा-नत होता है जिसके पवित्र प्रताप से लोक-मङ्गल का विधान हो। लोक-कल्याणकारी प्रभाव सहज सम्भव नहीं होता। वह गुण सापेक्ष होता है। गुण भी सामान्य नहीं, शुभ्र शुभ गुण। वे प्रसून हैं प्रभु की प्रसन्नता रूपी कल्पलता के। प्रमाण काकभुशुण्डि। चिरजीव लोमश ने उन्हें दिया था वरदान—

'सदा राम प्रिय होहु तुम सुभगुन भवन अमान।'

मानों श्रीराम-प्रियता का मूल मन्त्र था—'शुभ गुणों का भवन होना' श्री रघुवीर ने काक कोविद को अपनी कृपा का प्रसाद देते हुये कहा था—

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे।
सब सुभ गुन बसिहैं उर तोरे॥

ये समस्त शुभ गुण वन्दनीय विनायक पा गये बिना श्रम विरासत में। ग्रन्थकार ने उनसे अनुग्रह की याचना की।

कैसा वे अनुग्रह चाहते थे, यह बात उनके विशेषणों से स्पष्ट हो जाती है।

जो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवर बदन।
करहु अनुग्रह सोइ, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन॥

प्रश्न होता है, उन शुभ गुणों का स्वरूप क्या है और कितने हैं वे ? वस्तुतः शुभ गुण अनन्त हैं, वे उन्मुख करते हैं प्रभु की ओर, और प्रभु को शुभ गुण सदन की ओर। उनकी गणना में पड़ना बेकार है। हां, शुभ गुणों के सुमन जिस कल्प - पादप में खिलते हैं, वह झूमता है विनायक की हृदय भूमि में। स्वयं गोस्वामी जी संकेत करते हैं :—

महिमा जासु जान गन राऊ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

नाम-महिमा का महीरुह उनकी मानस-मही में महकता है। वे उस नाम महिमा के प्रताप से प्रथम पूजित हैं। स्पष्ट है जो प्रथम पूज्य का प्रथम स्मरण नहीं करता वह अवहेलना करता है नाम महिमा की। भला अनन्य नामानुरागी गोस्वामी जी ऐसी भूल क्यों करते ? जिनकी अभयदायिनी घोषणा है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।
राम न सकहिं नाम गुन गाई॥

राम-महिमा से महान् है नाम महिमा, उसका जापक, नाम-निष्ठ गणराज प्रथम बन्दनीय होता है तो समुचित है, गोस्वामी जी की आस्था का प्रसङ्ग है यह अभिवादन।

(३) कोई पुत्र चाहे कितना ही गुणवान हो यदि उसका मातृ - पक्ष, पितृपक्ष सदोष है तो परम्परागत दोष का आरोप सन्तान में लोग कर ही डालते हैं। हमारे गणराज के दोनों पक्ष पावन है। माता हैं पार्वती जो पतिव्रताओं में प्रथम मान्या हैं—

'पतिदेवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।'

पिता त्रिभुवन का आदि गुरु है—

तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखानी।

लोक में एक पक्ष और हैं। वह है पुरानी पीढ़ी के लोगों का। वे जब किसी सन्तान की ओर अंगुली उठाकर कह बैठते हैं— 'अजी और तो सब ठीक है, होनहार है लड़का, पर बेटा बाप के पग-चिन्हों पर नहीं चला, पिता की परम्परा छोड़ दी यह अच्छा नहीं किया। विनायक इस वैगुण्य से भी विमुक्त हैं। उनका मार्ग माँ - बाप से अलग - अलग नहीं है, कुल परम्परा से प्राप्त प्रिय - पथ है उनका।

पिता तो विश्वास के स्वरूप ही थे और वह विश्वास उनके श्वासोच्छ्वास में छलका था राम-नाम के प्रति—

नाम प्रभाव जान सिव नीके।
काल-कूट फल दीन्ह अमी के॥

देवता-दैत्य जिस अमृत को न पा सके उसे विष में पा लिया विश्वनाथ ने।

गजानन की जननी ने राम-नाम पर कोटि-कोटि मन्त्रों को निछावर कर दिया तो वे मूर्तिमती श्रद्धा बन गयीं—

सहस नाम सम सुनि सिव बानी ।
जपि जेईं पिय संग भवानी ।।

अखिल विश्व के सुस्वादु पदार्थों के सिरमौर शत-शत सुध-मोदक जिसकी मधुरिमा के सामने शरमा गये थे उस नामामृत का आस्वादन अब तक अकेले कर रहे थे शशि शेखर। मानो आज गिरि-राजकुमारी भी उस भव्य भोजन में भाग लेने लगी—

जपि जेईं पिय संग भवानी ।

उनके बेटा हैं विनायक, भला क्यों न प्रथम पूज्य हों ?

(४) इनका यह प्रथम सम्मान सामान्य जन के लिये मान्य हो, ऐसी बात नहीं है महान् ही विभूतियां इस मर्यादा का मान करती हैं। हम देखते हैं, इस प्रथम पूज्य की सर्वप्रथम पूजा करते हैं मानस के परमाचार्य पार्वती-पति, जिन्हें गोस्वामी जी अपना परम गुरु, अपने पोषक पिता एवं स्नेहप्रद माता मानकर मुदित होते हैं। न केवल गोस्वामी जी के त्रिभुवन के गुरु हैं आदि गुरु—

तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना ।

फलतः सारा विश्व झुकता है उनके अभिमुख—

संकर जगत वंद्य जगदीसा ।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा ।।

ऐसा गौरवशाली देव, देव ही नहीं महादेव, पूजन करता है गणराज का, नत होता है उनके सामने—

मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि, सुर अनादि जिय जानि ।।

प्रकट होने के पूर्व ही पूज्य बन गये विनायक, यही तो गौरव की बात है। शिव तो सर्वज्ञ हैं, उन्होंने देख लिया विवेक-बिलोचनों से कि जो अनादितत्व है, अविनाशी पूज्य देवत्व, वही तो गिरिजा भावी गौरव है। उन्होंने तत्काल भविष्य दृष्टा ऋषियों के आदेश का पालन किया, प्रतिष्ठित किया प्रथम पूज्य परिपाटी को।

(५) गणराज की अनादिता का प्रतिपादन विविध ग्रन्थ करते हैं। 'तन्त्रराज' में कहा है—

अनाद्यन्तोऽपराधीनः स्वाधीन भुवन त्रयः
जयत्य विरतो व्याप्तविश्व कालो विनायकः।

आदि अन्तहीन, स्वतन्त्र, तीनों लोकों को अपने बस में रखने वाला, अनासक्त, विश्व व्यापक, काल रूप विनायक सर्वोत्कृष्ट है।

शिव रहस्य-काशी महात्म्य में उन्हें प्रथम पूज्य नित्य आनन्त नामों से पुकारा है। इसी प्रकार 'एक-दन्त स्तोत्र' में 'आदि मध्य अंत-हीन' कहकर उनका गौरव प्रकट किया गया है।

आधुनिक अध्ययनशील आस्तिक कहते हैं कि प्रथम पूजित होने वाला 'गणेश' एक पद है जैसे अपने संविधान में राष्ट्रपति पद । व्यक्ति बदलते हैं, पद स्थायी रहता है । गणेश - पद प्रत्येक युग में रहता है, हाँ युगानुकूल पदस्थ देव भिन्न - भिन्न होते हैं अतः गणेश का पूजन शिव द्वारा असंगत नहीं ।

गोस्वामी जी तो सार - प्रेमी हैं, विस्तार प्रेमी नहीं । उन्होंने कर दिया समाधान--'सुर अनादि जिय जानि' ऐसे अनादि देव का, प्रथम पूज्य का यशोगान कौन न करेगा ? सभी विज्ञ इस तत्व से परिचित है कि श्री मूलक सम्प्रदायों के वैष्णवों में श्री की महिमा असामान्य मानी गयी है। इस सम्बन्ध में स्वयं श्री राजकिशोरी के रूप में अपनी कामना की सफलता के हेतु श्री गणनायक की सेवा करती हैं और सेवा का फल प्रभु प्राप्ति बताती हैं--

गन नायक बर दायक देवा ।
आजु लगे कीन्हिउँ तव सेवा ।।

रामानुरागियों में मूर्धन्य, पुण्य - पयोधि, परम प्रतापी प्रभु के पूज्य पिता महाराज दशरथ मिथिला की ओर प्रस्थान करते हैं उस मङ्गल वेला में विनायक का स्मरण आवश्यक समझते हैं--

तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहँ हरषि चढ़ाइ नरेस ।
आपु चढ़े स्यन्दन सुमिरि हर गुरु गौरि गनेस ।।

शास्त्र - सम्मत लोक मान्य मर्यादाओं के संस्थापक मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का पाणिग्रहण हुआ, शक्ति - शक्तिमान का लीला-भूमि में मिलन हुआ, पर वह मिलन मर्यादानुकूल शास्त्रानुमोदित तब हुआ जब विद्वान विप्रों ने श्रीराम - जानकी के द्वारा गणराज का पूजन सम्पन्न करा दिया। वैष्णव - वरेण्यों के शरण्य श्रद्धा सहित अर्चन करते हैं—

आचारु करि गुरु गौरि गनपति, मुदित विप्र पुजावहीं।

राजकुमारियों की विदा होती है, ज्ञान - प्रेम के प्रयाग रूप विदेहराज प्रेम में परिप्लुत हैं, पर विस्मृत नहीं करते गौरी गोद के गौरव गणेश को।

प्रेम बिबस परिवार सब जानि सुलगन नरेस।
कुंवरि चढ़ाई पालकिन्ह सुमिरे सिद्धि गनेस ।।

महाराज दशरथ पुर प्रवेश के अवसर पर पुनः स्मरण करते हैं सिद्धि सदन का—

समउ जानि गुरु आयसु दीन्हा।
पुर प्रवेस रघुकुल मनि कीन्हा ।।
सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा।
मुदित महीपति सहित समाजा ।।

श्री राम ने इस मर्यादा की पुनः याद दिलाई। गिरिजा-तनय का स्मरण केवल सुख में ही नहीं, दुख में, संकट में भी सफलता के हेतु अनिवार्य है—

गनपति गौरि गिरीस मनाई।
चले असीस पाइ रघुराई ।।

इस परम्परा का पालन समग्र साकेत वासी करते हैं—

करि मज्जन पूजहिं नर नारी ।
गनप गौरि तिपुरारि तमारी ।।

इन सम्पूर्ण उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रत्येक श्रद्धावान् कार्यशील पुरुष के लिये महामान्य गणनायक प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में पूजनीय, आदरणीय एवं स्मरणीय हैं। फिर अत्यन्त विनयावनत, शास्त्रीय परम्पराओं के परम पोषक पूज्य गोस्वामी जी कैसे त्याग कर देते शास्त्र-सम्मत विधान का ? क्या वे उदाहरणगत राम भक्तों से, साक्षात् प्रभु श्रीराम से भी अपने को बड़ा मानते थे ? ऐसा सोचना भी अपराध होगा ?

(६) अब शंका का द्वितीय अंश विचारणीय है कि क्या अन्य देव का वन्दन अन्याश्रयी बना देता है ।

सर्व प्रथम हम यह देखेंगे कि शास्त्रकारों ने अनन्यता का क्या अर्थ किया है और गोस्वामी जी उस अर्थ से कहाँ तक सहमत हैं ।

श्रीमद् भागवत महापुराण वैष्णवों का धन माना गया है उसकी सम्मति सर्व प्रथम प्रस्तुत की जा रही है ।

विदेहराज से योगेश्वर कवि कहते है—

खं वायुमग्नि सलिलं मही च,
ज्योतीषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित् समुद्रांञ्च हरेः शरीरं,
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।।

(११-२-४१)

इस श्लोक के अनुसार अनन्य भक्त वह है जो सम्पूर्ण प्राणी, आकाश, वायु, अग्नि, जल, धरती, नक्षत्र - मण्डल, दिशाएं, द्रुमादि, सरिताएं समुद्र जो कुछ भूत जात है, सबको प्रभु का शरीर समझ कर प्रणाम करता है ।

यह है अनन्य का व्यापक गम्भीर एवं सर्वतोमुखी मुख्य लक्षण । इससे पूर्ण सहमत हैं ग्रन्थकार । वे वन्दना करते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत्त सकल राम मय जानि ।
बन्दउँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ।।
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गन्धर्व ।
बन्दउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ।।

आकर चारि लाख चौरासी ।
जाति जीव जल थल नभ वासी ।।
सीय राम मय सब जग जानी ।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।।

श्री राघवेन्द्र प्रभु स्वयं अपने परम भक्त पवन कुमार से कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त ।।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त ।।

मानसाचार्य भगवान शिव का मत है—

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभु मय देखहिं जगत; केहि सन करहिं विरोध ।।

इतनी विशाल दृष्टि रखने वाला महापुरुष अन्याश्रयी कैसे हो सकता है ?

(७) देवर्षि नारद कहते हैं—

'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ।'

'अन्याश्रयों का त्याग' 'अनन्यता' कहलाता है । इसके अनुसार हम देखते हैं, ग्रन्थकार का आश्रय आधार इतना महान् है, इतना विस्तृत - इतना विपुल कलेवर है कि वहाँ 'अन्याश्रय' के लिये स्थान नहीं है, गुन्जाइश नहीं है—

प्रियतम छवि नयनन्हि बसी पर छबि कहाँ समाइ ।
'रहिमन' भरी सराय लखि, पथिक आपु फिर जाइ ।।

गोस्वामी जी की प्रबन्ध-पटुता वहाँ अधिक दर्शनीय बन गई है जहाँ उन्होंने उपरितन गहन-चिंतन धारा को व्यवहार की विषम भूमि में उतारा है । वहाँ उन्होंने लोक मर्यादा की यमुना एवं शास्त्र - परम्परा की गंगा का सुभग संगम, काव्य कला के विलक्षण भूतल पर किया है और वहाँ उनकी अनन्य निष्ठा का अमर अक्षय वट ऊपर उठकर झूमने लगा है ।

वे श्रद्धा पूर्वक स्मरण करते हैं गणनायक का—

आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो । (रामलला नहछू)
बिनइ गुरहिं गुन गनहि गिरिहि गननाथहिं । (पार्वती मंगल)
गुरु गनपति गिरिजा पति गौरि गिरापति । (जानकी मंगल)

'रामाज्ञा प्रश्न' नामक लघु ग्रन्थ में तो प्रथम सर्ग के छह दोहों में लगातार गणेश स्मरण है । विनय-पत्रिका के आरम्भ में सबको सलाह देते हैं—

गाइये गनपति जग बन्दन ।

सूर्य, शिव, भैरव, महिष-मर्दिनी कालिका, किसका वन्दन नहीं करते वे ? अपने चित्रित पात्रों के द्वारा तो लोक-मानस-मान्य मनौती के पूरक देवों की भी पूजा करा देते हैं, किसी भी मान्य देवता को निराश नहीं करते, फिर चाहे वह भले ही स्वर्ग का नहीं, ग्राम देव ही क्यों न हो। सौभाग्य शालिनी अम्बा कौसल्या मनाती हैं—

पूजी ग्राम देवि सुर नागा ।
कहेउ बहोरि देन बलि भागा ।।

ऐसा करके क्या वे अन्याश्रयी हो गये, उनकी अनन्य निष्ठा में बट्टा लग गया ? नहीं।

सम्पूर्ण वन्दना का उपक्रम साधन पक्ष में है, साध्य पक्ष में नहीं। वे वन्दना करते हैं गणेश की। किन्तु कामना करते हैं श्री राम प्रेम की या राम-गुण-गान की। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

वाणी विनायक की वन्दना कर वे प्रभु की पावन गुणावली का निर्विघ्न समापन चाहते हैं। विनय में गजानन का गान करते हैं पर चाहते हैं कि—

माँगत तुलसिदास कर जोरे ।
बसहु राम सिय मानस मोरे ।।

कालिका की वन्दना है पर याचना यह है—

रघुपति पद परम प्रेम, तुलसी चह अचल नेम ।

शिव की स्तुति की गई किन्तु कामना है—

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

देहु काम रिपु राम चरन रति ।

दिवाकर की वन्दना की गई, परन्तु प्रार्थना है प्रभु प्रेम की—

तुलसी राम भगति बर मांगे ।।

मोदमयी राम माता मनौती मनाती हैं, पर क्यों ?

जेहि बिधि होइ राम कल्यानू ।
देहु दया करि सो बरदानू ।।

यह कामना ही अनन्यता की मूल वृत्ति है । इसमें कहीं अन्तर नहीं आता । आराध्य एक मात्र श्रीराम हैं । तुलसी उपास्य के रूप में अन्य को नहीं जानते । उनका कथन है—

तो हौं बार बार प्रभुहिं पुकारिकै खिझावतो न,
जो पैं मोको हो तो कहूँ ठाकुर ठहरु ।
आलसी अभागे मोसे हैं कृपालु पाले पोसे,
राजा मेरे राजा राम अवध सहरु ।।
सेये न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी,
हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु ।

उनकी दृष्टि में उनका आराध्य प्राणों का प्राण, जीवन का जीवन, देवों का देव, ईश्वरों का ईश्वर, महाराजाओं का महाराज है—

ईसन के ईस, महाराजन के महाराज,
देवन के देव देव ! प्रानहू के प्रान हौ ।

—विनय० २५०

कालहू के काल, महा भूतन के महा भूत,
कर्म हूं के करम, निदान के निदान हौ ।
निगम को अगम, सुगम तुलसी हू से को,
एते मान सील-सिन्धु करुनानिधान हौ ।
महिमा अपार काहू बोल को न पारावार,
बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ ।
(कवितावली)

उनका स्पष्ट उद्‌घोष है—

ईस न, गनेस न, दिनेस न धनेस न,
सुरस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने ।।
—कवितावली

गोस्वामी जी की यह प्रतिपादन - पद्धति, प्रमाण - मूलक, शास्त्र - सम्मत एवं विशाल हृदय सन्त-रत्न के सर्वथा रूपानुरूप है। अनन्यता के नाम पर संकीर्ण धारणा का पोषण वे कहीं नहीं करते। संस्कृत के मूर्धन्य ग्रन्थों में इसी अतुल औदार्य एवं दीर्घ दृष्टि के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

पुराण-भूषण श्रीमद्‌भागवत में हम देखते हैं कि ब्रजवासियों के सर्वस्व हैं श्रीकृष्ण। पर वे शास्त्र प्रसिद्ध देवाराधन करते हैं। हाँ चाहते हैं अपने ब्रज-वल्लभ को।

ब्रज चन्द्र की चतुर चकोरी - ब्रजकुमारियां कात्यायनी का अर्चन व्रत करती हैं, चाहती क्या है ?

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्द गोप सुतं देवि, पतिं मे कुरु ते नमः ।।

१०-२२

चाहती हैं, नन्द गोप सुत को पति के रूप में । यही उनका मन्त्र और यही उनकी प्रार्थना थी ।

अम्बिका वन में जाकर ग्वाल-बाल शिव पार्वती पूजन करते देखे जाते हैं, उनकी प्रार्थना थी—'देवो नः प्रीयतामिति ।'

श्यामसुन्दर स्यमन्तक मणि की खोज में गये, कई दिनों तक नहीं आये तो द्वारकावासी भगवती की पूजा करते हैं—

उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ।

द० उ० ५६-३५

इस प्रकार के विपुल उदाहरण हैं और कई आर्य ग्रन्थों में हैं। हम प्रमेय के सिर पर प्रमाणों का अनावश्यक भार लादना उचित नहीं समझते । एक निदर्शन मात्र प्रस्तुत किया है ।

यहाँ तक तुलसी-साहित्य के सन्दर्भ में हमने विनायक वन्दना का विश्लेषण किया, आगे हम उनकी महिमा के मन्दिर - द्वार पर शास्त्रों के कुछ शब्द-प्रसून समर्पित करेंगे ।

वेद का वृहद् भाग क्रिया परक है और प्रत्येक क्रिया का आरम्भ गणपति पूजन से होता है । पूजन किस मन्त्र से हो, इस सम्बन्ध में महर्षि पाराशर कहते हैं—

गणानान्त्वेति मन्त्रेण गणेश मर्चयेत् सुधीः
गणानां त्वा गणपति हवामहे इत्यादि—

शु० य० अ० २३ म० १९

इस प्रसिद्ध मन्त्र का देवता गणपति है और ऋषि है प्रजापति। इस मन्त्र के विषय में कुछ समय पूर्व एक आधुनिक विद्वान ने आपत्ति की थी कि मन्त्र का अर्थ गणपति नहीं अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा है। ब्राह्मण लोग अपने अविवेक से इसका सम्बन्ध गजानन से जोड़ते हैं।

अवश्य ही अश्वमेध यज्ञ में यजमान की पत्नी मृत अश्व से प्रार्थना करती है इस मन्त्र के द्वारा। ऐसा करने का प्रायः हेतु यह होता था कि इसके फलस्वरूप समस्त वाधा प्रशमन पूर्वक राजमहिषी वीर प्रसू बने या अन्य अभीष्ट सिद्ध हो। इसीलिये गणपति मन्त्र का वहाँ प्रयोग आवश्यक था। यदि इस मन्त्र का अर्थ मृत अश्व है तब तो यह बात तर्क विरुद्ध है। भला मरा हुआ घोड़ा गणों का गणपति, प्रियों का प्रियपति एवं निधियों का निधिपति कैसे हो सकता है? क्या कोई भविष्य द्रष्टा ऋषि मुर्दे को अपने मन्त्र का देवता मानेगा? यदि कहा जाय कि घोड़े के लिये उक्त मन्त्र की प्रार्थना का विधान करने वाला शास्त्र ही प्रमाण है तब हम कहेंगे कि शास्त्र ने मृत घोड़े को गणपति नहीं माना है। गणपति-शक्ति का आधार मात्र है उसमें। सोमयाग में सोमलता जिस शकट पर लाई जाती है वह शकट, जिसमें उसका रस निचोड़ा जाता है वह पात्र, जिस गाय का उसमें दूध मिलाया

जाता है, वह गाय, गाय की रस्सी, बछड़ा, बछड़ा को भगाने की छड़ी, इन सबका दिव्य - वैदिक मन्त्रों से वन्दन होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन मन्त्रों का देवता, मन्त्रों का वाच्य रस्सी हैं या छड़ी है, यह तो एक महान् योग के साधन हैं जिनकी प्रशस्ति है। यही बात गणपति मन्त्र की है। वह गणपति परक है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध तैत्तरीय आरण्यक में— गणेश-गायत्री प्राप्त होती है—

तत्पुरुषाय विद्महे हस्ति मुखाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात।

मैत्रायणी संहिता में भी प्रकारान्तर से इसका उल्लेख है। वेदों के भाष्य कर्ता आचार्य सायण अपने प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में वन्दना करते हैं—

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ।।

"वृहस्पति आदि देव - गण सम्पूर्ण कार्यों के आरम्भ में जिसे प्रणाम कर कृत कृत्य हुए उस गजानन को मैं नमस्कार करता हूं।"

यं यं काममभिध्यायन् कुरुते कर्म किंचन ।
तं तं सर्वमवाप्नोति वक्रतुण्डप्रसादतः ।।

ब्रह्माण्ड पुराण-भृगु०—

गजानन की कृपा से निखिल कार्यों की सिद्धि होती है।
ब्रह्म वैवर्त पुराण में कहा है—

ढुण्ढिराजः प्रियः पुत्रो भवान्याः शंकरस्य च ।
तस्य पूजनमात्रेण त्रयोऽपि वरदाः सदा ।।

'पार्वती के प्रिय पुत्र की पूजा से ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव तीनों देवता सदा वरदान देने को तत्पर रहते हैं ।'

गणेशः सर्व देवानामादौ पूज्यः सदैव हि ।
सर्वैरपि महाविघ्न नाशकोऽन्यो न विद्यते ।।

'सबको चाहिये कि सर्वदा सम्पूर्ण देवों में सर्व प्रथम गणेश की पूजा करें, उन जैसा विघ्न-विनाशक दूसरा देव नहीं ।'

पूजा पद्धति में प्रथमतः पढ़ा जाता है—

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि
विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा
संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते ।

इस प्रकार हम देखते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों का गणनायक के सम्मान में कितना गौरव-गुम्फित कथन है। उसे मानते हैं सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी महाराज। हमारे बहुमान-भाजन ग्रन्थकार ने अपने इष्ट से पूर्व वाणी-विनायक की वन्दना करके शास्त्र-शिष्टाचार का सम्यक सम्मान किया और यह उनके अनुरूप ही था, क्योंकि वह क्रान्तिदर्शी ऋषिकल्प

महाकवि समझता है कि इन ममग्र देव-विभूतियों में वैभव उसके विभु का है—

हरिहि हरिता विधिहि विधिता सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकी पति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई।।

विनय/१३५

वाणी का वेद विदित वैभव

इसके पश्चात् भगवती वीणा पाणि का स्मरण आवश्यक है। 'वाणी-विनायकौ' में वाणी का उल्लेख प्रथम है। उन्हें छोड़ना उचित न होगा। वैसे तो समाधान का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो शारदा की वन्दना के समर्थन में प्रस्तुत किया जा सकता है, पर दोनों में एक मौलिक अन्तर है, उस दृष्टि से विवेचन प्रसङ्गोचित होगा।

अपने यहाँ वेद सर्वोपरि हैं, वे अपौरुषेय हैं नित्य हैं प्रभु के श्वासोच्छवास रूप हैं, उनका द्रष्टा ऋषि कहता है—

सरस्वत्यै यशो भगिन्यै स्वाहा—शु० य० अ० २-२००

'सरस्वती यश की भगिनी है, उसे आहुति समर्पित हो।' कितनी मधुर भावना है। बहिन का भाई पर, भाई का बहिन पर कैसा निश्छल समुज्ज्वल स्नेह होता है। वही सम्बन्ध है यश और शारदा का। भाष्यकार महीधर कहते है—'जीवतः प्रशंसा यशः, तस्य यशसो भगिनी।' शब्द-व्युत्पत्ति की सीमा में भगिनी

शब्द उतना ही महनीय है। जितना भगवत् शब्द। इसका आशय यह हुआ कि सरस्वती के द्वारा जिस यश की उपलब्धि होती है, वह अमर होता है, वह जीवित रखता है उस पुरुष को जिसे शारदा प्रदत्त उक्त यश मिलता है। वेद के विविध मन्त्रों में वाग्देवी की महान महिमा है, उसे काम पूरक काम धेनु के रूप में अंकित किया है। एक स्थल पर ऋषि कहता है—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां
यज्ञं दधे सरस्वती—शु० य० अ० २०-म० ८५

'सूनृतों की प्रेरक, सुमतियों की प्रकाशिका तथा यज्ञ की आधायिका है सरस्वती।' भाष्यकार कहते हैं—सत्यं प्रियं सूनृतम्'—जो वाणी सत्य और प्रिय हैं उसे 'सूनृत' कहते हैं। सरस्वती अपने साधक की प्राण-वीणा में सूनृत शब्द-सौष्ठव का स्वर छेड़ देती है और तब सोयी हुई सुमति-सीमन्तिनी अँगड़ाई लेकर जाग उठती है, उसकी एक स्वर लहरी पर।

इस मन्त्र में 'सूनृत' सुमति तथा यज्ञ, इन तीन तत्वों की ओर संकेत है। सूनृत प्रेरणा से वाग विभूति, सुमति-चेतना से बुद्धि-वैभव और यज्ञ के द्वारा सुकर्म कलाप, इन तीनों का कलात्मक मिलन शारदा की अपांगलीला से विलसित होता है, यह है ऋषि की आन्तरिक अनुभूति।

सामवेद के मधुर गायक ऋषि की भी भव्य - अभिव्यक्ति है भगवती भारती के प्रति, वह भी उन्हें भगिनी के रूप में देखता है—

उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसासुजुष्टा
सरस्वती स्तोभ्याऽभूत—उ० अ० १३ ख ३

सरस्वती स्तुति-भाजन हुई क्योंकि वह प्रियों में प्रिय है सजुष्टा एवं सप्तस्वसा है।'

'स्वसा' शब्द का अर्थ है भगिनी। पर इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—सुष्ठु अस्यति, इति स्वसा। जो श्रेष्ठ गति से क्षेपण करती है आगे बढ़ाती है तरंगायित सजलता को; उसे कहते हैं स्वसा। सरस्वती किसकी स्वसा है। ऋषि कहता है—सप्त स्वसा+सात की बहिन है, गायत्री आदि सप्त छन्दों की, गंगा आदि सप्त नदियों की एवं सप्त स्वरों की प्यारी स्वसा है। छन्दों का प्रवाह, स्वरों की लहरी तथा भारत की पावनतम सरिताओं की विमलता का प्रवाह पीछे पीछे दौड़ता है शारदा के। क्यों न हो, वह सुजुष्टा-सुभोभिता जो ठहरी। किससे सुजुष्टा है? अलंकृतियों से, गुण-गुण मुक्ता फलों से।

इस प्रकार वह वेद वन्दनीया है वाग्देवी।

शारदा का सार गर्भित स्वरूप।

अज्ञान को अन्धकार कहा है, ज्ञान को प्रकाश। सरस्वती का समग्र स्वरूप समुज्ज्वल है प्रकाशोन्मुख विशुद्ध सत्वरूप है। वृहस्पति स्तोत्र में कहा है—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्र वस्त्रावृता,
या वीणा-वरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना,

या ब्रह्म च्युतकरप्रभृतिभि र्देवैः सदा वन्दिता,
सा मां पातु सरस्वती भगवती निश्शेष जाड्यापहा।

अशेष जडता का अपहरण करने वाली है भगवती सरस्वती। क्योंकि वह कुन्द-चन्द्र-तुषार-मुक्ताहार-सी शुक्ल वर्णा है। वह धवलकाय है, वेष्टित है धवल वस्त्रों से। उसका अधिष्ठान उज्ज्वल कमल है, उसकी वन्दना करते हैं त्रिदेव। इतनी गौरव शालिनी है वाणी।

वह बैठती है श्वेत सरोज पर चलती है उज्ज्वल हंस पर। कमल जल से असंपृक्त, शारदा विषय-विमुक्त, कमल कमलापति के कर को अलंकृत करता है, नर्तन करता है संकेत पर, शारदा प्रभु के हाथ की कठपुतली है, वह नाचती है, प्रभु की अंगुली के संकेत पर। कमल सृष्टि का आधार है। शारदा, रचना की अधिष्ठात्री है, हंस, क्षीर-नीर का विवेकी, मुक्ता चुगने वाला, सरस्वती गुण ग्राहिणी, अवगुणहारिणी, प्रभु के गुण-मुक्ता फलों का आहार करने वाली। संस्कृत में सूर्य को 'हंस' कहते हैं, मानो वाग्देवी प्रकाशासीन है तभी तो उनका आधार कमल विकसित है। हंस शब्द जीव का निश्वास-निसृत सहज स्वरूप का बोधक भी है जो 'सोऽहं' के रूप में व्यक्त होता है मानों भगवती के पाद पल्लव के पवित्र स्पर्श से उस स्थिति का उद्बोध होता है।

लोक प्रसिद्ध इस श्लोक में उन्हें 'कुन्देन्दुतुषार-हार धवला' कहा हैं। यहाँ उपमानों का मात्र संग्रह नहीं है अनावश्यक,

अभिप्राय - गुम्फित हैं उपमान। स्तुति देव गुरु की हैं। उनका संकेत मर्म-मधुर है। वे कहते हैं—

काव्य - कुञ्ज में कुन्द - कुसुम - सी सुकुमार, सित सुरभित, हरीतिमा की मुकुट-मणि है—हीरक - किरीट हैं—शारदा, । शरद - सुषुमा से सुशोभित। वह कभी भाव - नभ में चन्द्रिका-सी चमकती है, आह्लादक, शीतल, धवलिमा से वलित अमृत-वर्षिणी बनकर। और कभी प्रतिष्ठा के सर्वोच्च हिमालय पर हिम - खण्ड - आभा - सी भासती है मारती! पर पिघल पड़ती है करुणा की रवि किरणों के संस्पर्श से। तो कभी वह प्रतिभा-पुत्रों के विशाल वक्ष को उद्भासित करती है मुक्ताहार की मुस्कान से।

युग-युगों से मानवता का आभरण रहा है यह शारदा का अक्षय अद्भुत ऐश्वर्य। नीतिकारों ने माना—

—वाग्भूषणम् भूषणम्।

देवी भागवत चतुर्थ अध्याय में भगवती भारती का अद्भुत वैभव वर्णित हुआ है। वहाँ के प्रत्येक कल्प में प्रत्येक प्राणी की पूज्या मानी गई है। मनुगण, मनुष्य, देवता, मुनि-गण, वसु, योगी, सिद्ध, नाग, गन्धर्व, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सनकादि सब की वन्दनीय बनकर प्रतिष्ठित हुई। भगवान श्रीकृष्ण भी उनकी पूजा करते हैं।

प्राचीन काल में भगवान नारायण ने महर्षि वाल्मीकि को शारदा-मन्त्र दिया, परशुराम ने दैत्य-गुरु शुक्राचार्य को, ऋषिवर

मारीच ने वृहस्पति को सरस्वती-मन्त्र दिया था। कणोद, गौतम, कण्व, पाणिनि, शाकटायन, दक्ष, कात्यायन, व्यास, शाता-तप, संवर्त, वसिष्ठ, पाराशर, याज्ञवल्क्य, ऋष्य-श्रृङ्ग, भरद्वाज, आस्तीक, देवल, जैगीरथ आदि शास्त्र प्रणेता धर्माचार्यों ने वाग्देवी का आराधन किया वे लोक पूज्य बने।

मन्त्रराज में सरस्वती को 'बुध जननी' के विशेषण से विभूषित किया है। मन्त्रराज का रूप है—'ओम् ऐं ह्रों श्रीं क्लीं सरस्वत्यै बुध जनन्यै स्वाहा' जो बुध जननी है उसे कौन बुध बन्दना न करेगा ? गोस्वामी जी कहते हैं—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं ।।

इसी गम्भीर सन्दर्भ में कवीन्द्रों ने अपने मानोन्नत मस्तक को मां के चरणों में झुकाया है। भवभूति कहते हैं—

वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्।
(उ०-रा०)

परमात्मा की अमृतमयो कला वाणी को हम नमस्कार करते हैं।

कविवर विरूपाक्ष 'उन्मत्तराघव' नामक अपने नाटक में कहते हैं—

अम्भोज सम्भव मुखाम्बुज राज हँसी,
बाल्मीकि-कोकिल-विलास बसन्त लक्ष्मीः।

द्वैपायनाम्बुद्धि विजृम्मण चन्द्ररेखा
वाग्देवता विजयतां कवि-कामधेनु

कमलजन्मा के मुख-कमल की राजहंसी, वाल्मीकि-कोकिल के विलासार्थ वसन्तलक्ष्मी तुल्या, कृष्ण-द्वैपायन के हृदयोदधि को उल्लसित करने वाली पूर्णचन्द्र की कला कल्पा, कवियों की कामधेनु वाग्देवता विजयशालिनी हो।

महा माहेश्वर श्रीमदाचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं—

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति बिना कारण कलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च,
क्रमात् प्रख्योपख्य प्रसर सुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्वं कवि सहृव्याख्यं विजयते ।

कारण-लेश के बिना ही जो एक अपूर्व वस्तु का विस्तार करता है तथा जो पाषण प्राय विश्व को निसर्ग-नीरस संसार को अपने रस पूर से सार पूर्ण करता है और क्रम से उसे प्रतिभा-प्रसार से सुभग बनाकर विभा-मण्डित करता हैं, कवियों में सह्रदय भाव से स्थित सरस्वती का वह तत्व, विश्व में सर्वोत्कृष्ट है।

सरस्वती के चरण-सरोजों में ऐसी अनन्त सूक्ति-सुमनों की मालायें अर्पित हुई हैं। हमने तो दो चार पुष्प-दल देवी की देहली पर रक्खे हैं।

श्री रामचरित्र के साथ सरस्वती का सम्बन्ध सर्वलोक विलक्षण है समस्त भारतीय वाङ्मय इसका साक्षी है। लोक में काव्य-कला की मृदुल अनुभूति सर्व प्रथम आदि काव्य के माध्यम से हुई। मानव-मेधा में रामचरित्र को लेकर ही प्रथम प्रथम शारदा का अवतरण हुआ। आदि कवि के प्रति ब्रह्मा का यह कथन महत्वपूर्ण है—

श्लोक-एवास्त्वयं बद्धौ नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥

—बा. रा. १।२।३१

हे ब्रह्मन्! मेरी इच्छा से ही यह सरस्वती तुम्हारे अवतीर्ण हुई है।

इसके सुपरिणाम स्वरूप—

रहस्यं च प्रकाशं च यद् वृत्तं तस्य धीमतः
रामस्य सह सौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः
वैदेह्याश्च यद् वृत्तं प्रकाशं यदि वाहहः
तथाप्य विदितं सर्व विदितं ते भविष्यति
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति

"लक्ष्मण के सहित धीमान् श्रीराम का जो प्रकट या गुप्त चरित्र है, सम्पूर्ण राक्षसों का सम्पूर्ण चरित्र वैदेही का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, जो भी अविदित वृत्त है, सब तुम्हें विदित हो जायगा। इस काव्य में आपका कुछ भी कथन असत्य न होगा।"

अन्त में ब्रह्मा कहते हैं, तुम्हारा काव्य भविष्य की अक्षय निधि होगा। वसुन्धरा का स्थिर एवं स्निग्ध सन्देश होगा—

यावत् स्थास्यन्ति गिरमः सरितश्च महीतले।
तावत् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

"जब तक इस महीतल पर अचल गिरिवर हैं, सजल नदियाँ हैं तब तक रामायण कथा लोकों में प्रचार पायेगी।"

यह है श्रीराम-कथा के साथ शारदा का अभिन्न सम्बन्ध।

रामचरित्र के रमणीय सरोवर में विहरणशीला - शारदा का स्वरूप गोस्वामी जी को सम्यक् विदित है, वे कहते हैं—

भगति हेतु विधि भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवति धाई ॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ।
सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ ॥
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥

इतना अनुराग है, इतनी अनन्य-निष्ठा है शारदा की रामचरित्र में।

गोस्वामी तुलसीदास जी से पूर्व लगभग १३ वीं शती में कोमल कान्त पदावली के प्रयोग में परम प्रवीण 'प्रसन्न राघव' कार

कविवर जयदेव हो गये हैं। वे बल प्रदान कर गये हैं, प्रेरणा दे गये हैं गोस्वामी के इस शारदा विषयक कथन को। कितनी सम्वादी है उनकी शब्दावली—

झगिति जगती मागच्छन्त्याः पितामह विष्टपात् ।
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत ।।
अपि कथसमौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते ।
रघुपति गुणग्राम श्लाघा सुधामय दीर्धिकाम ।।

"पितामह के भवन से जगती की ओर शीघ्रता - पूर्वक आने वाली देवी शारदा को श्रम हुआ दीर्घ मार्ग पार करने में। भला वह कैसे श्रम - मुक्त होती, यदि श्री रामभद्र के श्लाघनीय गुणग्रामामृत से पूर्ण वापी में स्नान न करती।"

इस कवि के पूर्व लगभग नवम शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान कवि पुङ्गव मुरारि ने प्रकारान्तर से इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए आदि कवि की अभ्यर्थना में लिखा था—

तमृषिं मनुष्य लोक प्रवेश विश्राम शाखिनं वाचाम् ।
सुरलोकादवतार प्रान्तरखेदच्छिदं वन्दे ।।

—अनर्घ० १-१०

'मैं उस ऋषि को प्रणाम करता हूं जो शारदा के मनुष्य लोक में प्रवेश करते समय सुरलोक से उतरने में सूने एवं लम्बे मार्ग के श्रम को दूर करने में स्वयं विश्राम - वृक्ष बन गया।'

शारदा ने अपने जीवन की बागडोर को श्रीहरि के हाथों में सौंप दिया है वे जैसा चाहें नचाते रहें—

सारद दारु नारि सम स्वामी,
राम सूत्र धर अन्तरजामी ।
जेहि पर कृपा करें जन जानी,
कवि उर अजिर नचावहि बानी ।।

कवि के हृदय-प्रांगण में वीणा-पाणि के नूपुरों की रमणीय झणत्कार करुणाकर की कृपा-कोर का कमनीय फल है। कौन है ऐसा अभागा जो उसकी कामना न करेगा ?

गोस्वामी जी काव्य का एक विलक्षण लक्षण प्रदान करते हुए बताते हैं कि सरस्वती के बिना काव्य-मुक्ता का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना,
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ।
जौं बरसइ बर बारि बिचारू,
होहि कवित मुकुता-मनि चारू ।।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित वरवाग ।
पहिरहि सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग ।।

मुरारि कवि का मिलता-जुलता श्लोक भी पठनीय है—

चेतः शुक्तिकया निपीय शतशः शास्त्रामृतानि क्रमात्
वान्तैरक्षर मूर्तिभिः सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिताः ।

उन्मीलत्कमनीय नायक गुणग्रामोपसंवल्लन-
प्रौढ़ाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हाररत्रजः ।

—अनर्घराघव-१-५

"सुकवि ने चित्त की सीप में शास्त्रामृत का शतशः पान किया पुनः क्रम से अक्षराकृतियों में उद्गीर्ण मोतियों से गले के हार बनाये, गद्य-पद्यात्मक काव्य-बन्धों की रचना की, और तत्र दीप्ति-सम्पन्न कमनीय नायक के गुण-ग्राम से सुशोभित, सुहृदों के कण्ठों में झूलती हुई ये मुक्ता-मालाएं स्वाभिमान से सम्पन्न बनाती हैं।"

भगवती भारती, भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों की अनुरागिणी है, उसका चित्त, चितेरा बनकर चारों का चित्र खींचता रहता है चकित होकर। पर असफल पाता है अपने आपको, फिर भी चिन्तन, निरन्तर चिन्तन—

सारद सेस महेस बिधि, आगम निगम पुरान ।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहि निरन्तर गान ।।

सेस सारदा बेद पुराना,
सकल करहिं रघुपति गुन गाना ।

वाणी, रघुपति पुरी का वर्णन करने चली, तो सोचा-नहीं, पहले पुरी का वर्णन सम्भव नहीं, पुरी के चरणों को पखारने वाली सरयू का वर्णन करूं पर ठगी-सी रह गई—

नदी पुनीत अमित महिमा अति,
कहि न सकइ सारदा बिमलमति ।

शारदा की मति विमल है और यह विमलता किसी सामान्य साधन से नहीं मिली है। तुलसीदास जी का अधिकारिक कथन है—

जासु कृपा निर्मल मति पावऊँ।

निर्मल मति श्री जानकी जी के चरण - नलिनों से मिलती है। यह सौभाग्य शारदा को उपलब्ध है, दाक्षिणात्य आचार्य कहते हैं—

लोके बृहस्पति वनस्पति तारतम्यं
यस्याः कटाक्ष परिणाम मुदाहरंति।
सा भारती भगवती तु यदीय दासी……। श्रीस्तव-९

"लोक में जड़ चेतन का अवबोध जिसके कटाक्ष - निक्षेप पर निर्भर है वह भगवती भारती श्री जी के चरणों की दासी है।

जानकी चरणचामरकार कहते हैं—

यस्मिन् शैलसुतालि केन्दु कलिका कल्याण - माल्यायते।
वाग्देवी कबरी विभूषण मणि ग्रामः फलस्तोम्यति ॥
नासा मौक्तिकरश्मयः स्मरुसरोजाक्ष्यास्तुषारन्त्यहो।
मैथिल्याश्चरणांशुपल्लव चयः शय्यास्य मच्चेतसः ॥ (७)

मेरा चित्त शयन करता है मैथिली के चरण - किरणों की किसलयों पर, जहां वाग्देवी की प्रणाम नत वेणी में गुंथा मणिस्तवक फलों का गुच्छा जैसा लगता है।"

ऐसी विमल बुद्धि वाली वाग्देवी सरयू का वर्णन क्यों न कर सकी ? कारण है। सरयू अपनी लोल - लहरियों की शीतल बाहों में अयोध्या को गोद में लिये है, अयोध्या की गोद में हैं महाराज के महल, महलों की गोद में है श्री रामभद्र की मान्य माताएं और माताओं की गोद में मोद मनाते हैं श्रीराम—

सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद ।

कैसे करे इस सौभाग्य-शालिनी सरयू का चित्रण ।

एक बात यह भी तो है कि सारा विश्व दौड़ता है प्रिया-प्रियतम के चरणों की ओर। युगल छबि के मालती मृदुल पाद-पल्लव, प्रतिदिन जाते हैं सरयू की ओर। बताइये कैसे हो इस चुम्बकीय चमत्कार का चित्रण। फिर शारदा यह भी सोचती है 'मेरा प्रादुर्भाव है मुख से, सरयू उत्पन्न हुई है मन से ।

जिव्हायां वाक् सरस्वती । म० भा० मोक्ष० २३९
सरस्वती वाक । म० भा० शा० २८४
कैलाश पर्वते राम ! मनसा निर्मित् परम ।
ब्रह्मणा नर शार्दूलं तेगेदं मानसं मरः ।।
तस्मात्सुस्राव सरसः साऽयोध्यामुपगूहते । ९
—वा० रा० २४

'ब्रह्मा के मन से निर्मित मानससर से सरयू निःसृत हुई है' भला वर्णन कैसे हो ? शारदा ठहरी बहिरङ्ग एवं सरयू है

अन्तरङ्ग। यही कारण है कि कवि शेखर उसे अद्भुत विशेषणों से विभूषित करता है—'कहि न सकइ सारदा।' क्यों? क्योंकि—'नदी पुनीत अमित महिमा अति।' 'अति अमित महिमा' का वर्णन कौन कर सकता है?

भारती विचारती है, अयोध्या का, उसके चरण प्रक्षालन करने वाली सरयू का वर्णन न कर सकी तो श्री अवध के हाथी, घोड़े, रथ आदि का ही वर्णन करके कृतार्थ हो जाऊं। प्रभु धाम में रहकर अवसर की प्रतीक्षा करने लगी। समय आया, श्रीराम की बारात सजने लगी। सरस्वती ने सोचा, बारात बहुत बड़ी है, सबका वर्णन सम्भव नहीं। केवल दो रथों का रमणीय वर्णन कर लूं, बस। पर आश्चर्य! वाणी की वाणी अवरुद्ध हो गई—

तब सुमन्त दुइ स्पन्दन साजी,
जोते रवि हय निन्दक बाजी।
दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने,
नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने॥

—मा० १-३००

बखान न कर सकी वाणी! क्यों? एक रथ में महाराज दशरथ हैं—एक रथ में गुरु वशिष्ठ! बताइये कौन करेगा इस विरोध का परिहार! एक रथ में हैं परब्रह्म का पिता, दूसरे में हैं, परब्रह्म का गुरु। अजन्मा का जन्म-दाता, विश्व शिक्षक का त्रिभुवन गुरु का गुरु क्या कभी सम्भव है?

इस प्रकार कला विलासिनी वाग्देवी, रुचिर रीति से विषय का विवेचन करके भी कहती है—मेरे पास शब्दों के तन्तु-वितान से विनिर्मित वाक्य का वैसा विस्तृत, सबल एवं अलौकिक अञ्चल नहीं जिसमें बाँध सकूं - भगवदीय सौभाग्य के सुवर्ण-सुमेरु को !

कहां है मेरी वीणा में स्वरों का विस्मयावह वह संगम, जिसमें अनन्त रागात्मक सम्बन्धों के आधार पर स्वयं राग - हीन राम का गान हो सके !"

सचमुच इस शैली में कला है। जहां 'ना' में 'हाँ' छिपी होती है, कितनी मर्म - मधुर होती है वह। इसमें ध्वनि - काव्य का परिपाक है, विनय की शिष्ट शोभा है साथ ही सत्य से सर्वथा समन्वित।

इसी गुण-गरिमा से गौराङ्गी शारदा, मिथिला के अन्त-रङ्ग रंग-महलों में प्रवेश पा गयी—

सची सारदा रमा भवानी,
जे सुरतिय सुचि सहज सयानी।
कपट नारि बर वेष बनाई,
मिलीं सकल रनिवासहिं जाई।

वहाँ शारदा का सौभाग्य देखते बनता है। अब तक-छकाया था प्रभु ने, उनकी शोभा ने, उनकी अलौकिक महिमा ने। बेचारी सरस्वती, मिथिला की गलियों में रंगीले - राम के

घोड़े तक का वर्णन नहीं कर पायी थी, अश्व की अलबेली चाल ने ही छका दिया था शारदा की प्रतिमा को। पर आज रंग ही कुछ और था—

लहकौरि गौरि सिखाव रामहि,
सीय सन सारद कहै ।

आज तो वैदेही की बगल में बैठकर खूब हराया बांके - वीर को, खूब छकाया छविधाम राम को।

श्रीराम की ऐसी अनुराग - रञ्जिता शारदा की वन्दना में कौन ऐसा अशिष्ट है जो कहेगा - शारदा की प्रथम - वन्दना से अनन्यता में बट्टा लगेगा ?

'सरबस दान'

●

२३ सहस्र वर्ष का तप:पुण्य, साठ हजार वर्ष की ज्वलन्त प्रतीक्षा एवं अश्मेध यज्ञ-पुत्रेष्टि यज्ञ का भव्य संभार, इन सबके पावन परिणाम स्वरूप लोकालय के ललाम राम, कौसल्या की कोख को धन्य बनाते हुये महाराज दशरथ के धवल महलों में मुसकरा उठे, क्षीर-सागर में नील कमल से !

नील कमल की मोहक मुसकान से माँ का रोम-रोम खिल गया। इन्दीवर का मुसकान मकरन्द माँ तक सीमित था। कौसल्या माता की कामना कुछ और थी। वे राम की मुसकान को देना चाहती थीं प्रजा के अधरों को—प्रजा के प्राणों को और प्रजा के रोदन को ध्वनित करना चाहती थीं राघव के अधरों से। फलतः माँ की मनुहार पर मनोहर कुंवर रोने लगा। फिर क्या था मुरली की माधुरी, कोयल की कूक, सितार की झनकार तथा सुधा की मधुरिमा एक साथ फूट पड़ी राम के रोदन से।

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी,
सम्भ्रम चलि आई सब रानी।

परम प्रिय वाणी में शिशु की शोभा का सार रोदन गूंजा महलों में। उसे सुना रानियों ने, दासियों ने। महाराज

दशरथ ने न सुना। उन्हें तो मूल का अनुवाद सुनने को मिला—

दसरथ पुत्र जन्म सुन काना।

वे इतने मात्र से ही ब्रह्मानन्द के सिन्धु में फिसल पड़े—

मनहुं ब्रह्मानन्द समाना।

वे देखकर चकित रह गये। ब्रह्मानन्द के पयोधि में वात्सल्य के वट वृक्ष पर छोटा - सा बना बैठा था 'परमानन्द'। ऐसा लगता है, ब्रह्मानन्द के अन्तराल में महाराज स्वयं प्रविष्ट हुए पर वह नन्हा-सा 'परमानन्द' तो महाराज के ही अन्तराल में जा घुसा—

परमानन्द पूरि मन राजा।

एक आश्चर्य और। आनन्द का सिन्धु समा गया महाराज के मानस में; किन्तु उसमें ऊब डूब हो रहे थे पुरवासी।

हरषित जहँ तहँ धाई दासी।
आनँद मगन सकल पुरवासी॥

जिस आनन्द में निमग्न थे वह सामान्य नहीं था—

ब्रह्मानन्द मगन सब कोई।

लौकिक आनन्दातिरेक में लोग अपने देह-गेह की सुधि भूल बैठते हैं यह तो था ब्रह्मानन्द। कैसे पता लगे इस आनन्द का? आनन्द होता है अन्तरंग किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बहिरंग होती है। फलतः उसका व्यक्तीकरण तब हुआ जब लोगों ने

विश्वमान्य सुख की आधारभूत वस्तुओं का त्याग करना शुरू किया। इसमें प्रथम त्याग था—साकेत - सीमन्तिनियों का। अयोध्या की गगन स्पर्शी उच्च अट्टालिकाओं की निवासिनी, धवल महलों की ललाम भूता भामिनियों ने अपने हृदय की उच्चता और धवलता का परिचय दिया। उनके जीवन का सर्वस्व था सौभाग्य का प्रतीक था उनके माथे का सिन्दूर और उस सिन्दूर की शारदा को अलंकृत किया था मोतियों की पंक्ति से। मोतियों की मांग से भरे अपने मस्तक को बार-बार अर्पित किया प्रभु के कोमल चरणों में और विश्व को उपदेश दिया कि जीवन में यदि कोई वस्तु शिरोमणि है—शिरोधार्य है तो ये चरण हैं। इन पर सब निछावर।

करि आरती निछावरि करहीं।
बार - बार सिसु चरननि परहीं॥

पुरुष वर्ग भी इस पौरुष में पीछे नहीं रहा।

पुरवासिन प्रिय प्राननाथ पर निज सम्पदा लुटाई।

धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश। इनमें दान योग्य धन धन्य माना गया—

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।

मुझे लगता है, राम पर निछावर किया गया धन, इन तीनों गतियों से ऊपर उठ गया। वह धन्य नहीं धन्याति धन्य बन गया।

भला उस धन की महिमा कौन गा सकता है जो राम के श्याम तन पर घूमकर प्रभु के मञ्जुल अङ्गों की परिक्रमा– प्रदक्षिणा कर चुका। जिस पर निछावर की जाती है वह रहता है नीचे और जो वस्तु निछावर हेतु प्रयुक्त की जाती है वह रहती है ऊपर। तो निछावर–द्रव्य राम के ऊपर घूमकर वह विश्व के ऊपर हो गया और उसका विश्व भ्रमण छूट गया।

यह था अवधवासियों का धन त्याग। जीवन – धन पर लौकिक धन का त्याग भी महत्व रखता है। लौकिक सुख का साधन है वह–

नहिं दरिद्र सम दुख जगमाहीं।

पर धन से अन्तरंग है शरीर। धन प्रिय है तो देह परम प्रिय है–

—सबके देह परम प्रिय स्वामी।
'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं'

नील कलेवर पर 'प्रिय' एवं 'परमप्रिय' दोनों विस्मृत हो गये। अयोध्या वासियों ने तन को विस्मृत कर उसे स्मरणीय बना दिया, परिणाम स्वरूप तन को नूतन सुख मिला और वह नाच उठा–

नाचहि पुर नर नारि प्रेम बस देह दसा बिसराई।

—गीतावली

देह दशा बिसर गई। देह पर कोटि - कोटि रोम थिरक उठे, धन और तन-दोनों तृप्त हुए, कृत कृत्य हुए। पर इसका श्रेय तो मन को था वह निछावर न होता तो यह सब कैसे त्यागे जाते।

जब देवों ने सुमनों की वृष्टि की थी—

—सुमन वृष्टि अकास ते होई।

तो लगा कि उन सुमनों में देवों के मन महक रहे थे, सुख की सुरभि से। रह गये ऋषि-मुनि। उनका मन मनन की श्रृङ्खला में आवद्ध रहता है, नियमों की कठोर कारा में नियन्त्रित रहता है। आते ही प्रभु ने उसे मुक्तकर दिया कि जाओ अब इसे मुक्त विचरण करने दो। अब इसे दुनिया का कोई प्रलोभन नहीं चुरा सकता। अब इसे तपकी तिजोरी में त्राटक के ताले लगाकर रखने की आवश्यकता नहीं रही। यह आ गया मेरे पास। अम्बा कौसल्या की स्तुति में आया हुआ प्रभु का 'मुनिमन हारी' विशेषण इस तथ्य की सूचना देता है।

चक्रवती जी का मन तो 'परम प्रेम की शर्करा से निर्मित था। भीतर बाहर प्रेम ही प्रेम। इस अर्थको ब्यक्त करता है महाराज के प्रति **'परम प्रेम मन पुलक शरीरा'** वाक्यांश का प्रयोग। रह गया अवध - वासियों का मन। वह विश्व की प्रिय माने जाने वाली समस्त वस्तुओं से विरक्त होकर प्राणाधार राम पर अनुरक्त हो गया—

दो०—कौसलपुरवासी नर नारि वृद्ध अरु बाल ।
प्रानहुँते प्रिय लागहिं सबकहँ रामकृपाल ॥

इस प्रकार अयोध्या में अवतीर्ण रघुवंशमणि की उपलब्धि पर विश्व की उपलब्ध वस्तुओं को, तनको और मन को निछावर करते हुए ईश्वरोपलब्धि को सर्वं श्रेष्ठ सिद्ध किया। उसकी प्राप्ति में कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता। उसकी सन्निधि के सुख पर सब कुछ निछावर कर दिया जाता है।

विश्व के साधकों और भक्तों की परीक्षा का प्रसङ्ग भी इसमें निहित है। एक ओर है संसार का समस्त सुख दूसरी ओर है विश्वात्मा राम का आनन्द। देखें लोगों को राम प्रिय हैं या संसार सुख! अयोध्यावासी इस परीक्षा में पूर्णतया उत्तीर्ण हुए। वहाँ के सूत मागधों का अगाध भाव ही विश्व को मुग्ध बना देने में समर्थ है। उच्चकोटि के लोगों की तो बात ही अलग है—

चौ०—मागध सूत बंदि गन गायक,
पावन जस गावहिं रघुनायक।
सरबस दान दीन्ह सब काहू,
जेहि पावा राखा नहि ताहू।

सूत मागधादि लोगों को सर्वस्व दान दिया गया—जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं का पूरक दान दिया गया। पर वे उसे पाकर स्वयं दानी बन गये—

जेहि पावा राखा नहिं ताहू ।
पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचक भये दानी ।

—गीतावली

याचक दाता बन गया, यही तो महत्व की बात है। एक दिन के दान का दान करके अनन्त काल के लिये माला - माल हो गये वे।

'जेहि पावा राखा नहिं ताहू' की रवड़ की तरह खींच-खींच कर तरह - तरह की आकृतियों में व्यक्त करना कुतूहल-वर्धक हो सकता है तथ्य पोषक नहीं, इसका अभिधेय अर्थ स्पष्ट है। उक्त चौपाई की प्रथम अर्धाली में जो 'सब काहू' शब्द है उसे प्रसङ्ग से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। सब' शब्द सर्वनाम है। वह संज्ञा की पूर्ति के हेतु आता है फलतः वह पूर्ण परामर्शक है बुद्धिस्थ परामर्शक नहीं। उसका यह अर्थ नहीं कि एक ने दूसरे को दिया, दूसरे ने तीसरे को, उसने चौथे को और इस प्रकार वह दान, गेंद की तरह खिलाड़ी लोगों के हाथों हाथ घूमता रहा। इस प्रकार का अनवस्था दोष यहाँ नहीं है। यहाँ दाता हैं महाराज दशरथ। उनसे ग्रहण करने वालों ने उस दान का भी दान कर दिया। यहाँ उन याचकों की आनन्द - निमग्नता तथा उनका औदार्य—अभिव्यक्त हुआ, इतना ही आशय है। भिन्न अर्थों में जाकर अनवस्था दोष होगा और प्रसङ्ग का सहज सारल्य चला जायगा।

राम-श्याम की साम्य-सोभा

श्रीराम और श्रीश्याम दोनों मध्य में अवतरित हुए हैं—मर्यादा पुरुषोत्तम दिनके मध्य तो लीला पुरुषोत्तम रात्रिके मध्य। दोनोंके आविर्भावका समय, महीना भी लगभग मध्य काल ही है। श्रीरामका मध्य दिवस, केवल मानवका ही नहीं देवोंका भी मध्य दिन था। —दक्षिणायन देवोंकी रात, उत्तरायण देवोंका दिन माना गया है। माघ माससे चैत्र मासका अन्त ही देवोंका मध्य दिन है। श्रीकृष्ण देवोंकी रातके मध्य नहीं, मानवोंकी रातके मध्य आये, क्योंकि देवोंकी आधी रातमें रात्रियाँ चाँदनीसे चटकीली होती हैं, उन्हें चाहिए था अन्धकार। राम त्रेतायुगमें तब आये जब वह बिदा ले रहा था और सामने आ रहा था द्वापर—

त्रेताद्वापरयो सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः।

—आदिपर्व-२

दोनोंके मिलन-मध्यमें वे आये।

श्रीकृष्ण द्वापरमें तब आये जब वह बिदा ले रहा था और सामनेसे आ रहा था कलियुग दोनोंका मिलन-मध्य था।

यह मध्य क्या है? लगता है, यह एक महत्त्वपूर्ण संकेत है, प्रभुका अवतार कब होता है, इसकी कुञ्जी है। आप कह सकते हैं—बिना कुञ्जीके ही रहस्य खुल चुका है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

धर्म-ग्लानिपर अवतीर्ण होता है वह । हम कहेंगे 'नहीं - धर्म ग्लानिमें, अधर्म, अन्याय, अत्याचारमें ईश्वर नहीं आता । धर्महीनता, आचारहीनता ईश्वरको कैसे बुला सकती है ? रहा गीताका कथन, उतना कथन अधूरा है । पूरा होगा—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, इस कथनसे । दोका मध्य चाहिए । जहाँ सब सज्जन हैं, वहाँ धर्मग्लानि कैसी और किसे ? कहाँ पीड़ाका प्रश्न ? क्यों अवतीर्ण होगा प्रभु ? और जहाँ सब असज्जन हैं, वहाँ अवतार विनाशका होता है, ईश्वरका नहीं, करुणामय प्रभूका नहीं । यह हुआ परिस्थितिगत, भागवत 'मध्य' का आशय, अब उसका दूसरा आशय देखें प्रभुगत ।

भगवान् मध्यमें आते हैं, मध्यमें रहते हैं, इसका क्या—अभिप्राय है ? मध्यका अर्थ है जो न इधर झुका है, न उधर । एक ओर है राग दूसरी ओर है द्वेष, एक ओर है बुरा, दूसरी ओर है भला, एक ओर है शत्रु दूसरी ओर है मित्र, ईश्वर दोनोंका मध्य—तटस्थ तत्त्व है, न वह रागोन्मुख है न द्वेषोन्मुख, वह है तटस्थ। श्रीकृष्ण गीताका गान, न पाण्डवदलमें करते हैं न कौरव दलमें, गीताका मधुरघोष माधवने मध्यमें किया—

'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथ स्थापय मेऽच्युत ।

उस स्थिति में स्थित होकर प्रभु जो कार्य करता है, जो वचन कहता है वह एक पक्ष-के लिए नहीं सर्वदलीय होते हैं, एक भूप्रदेशके नहीं सार्वभौम होते हैं। रागी विरागी सब लाभ लेते हैं उनसे।

एक सूत्र और लें। श्रीराम आये प्रकाश में, श्याम आये अन्धकार में। क्यों? कह सकते हैं—'प्रकाश और अन्धकार दोनों प्रभुके प्रिय हैं, सृष्टिके प्राणियोंकी दोनों सेवा करते हैं। एक कार्य - निरत करता है जीवको, दूसरा, कार्य से थकने पर शीतल गोदमें विश्राम देता, है, भगवान् तो दोनोंको गौरव देते हैं। इस तथ्यको कुछ और गहराईसे भी ले सकते हैं। केवल अन्धकारमें रहता है दानव, केवल प्रकाशमें रहता है देव, पर मानव! वह खड़ा है प्रकाश और अन्धकारके संगमपर। यह प्रकाशका मिलन-मध्य नहीं तो और क्या है? नरावतार मध्य का अवतार है। देवलोक है ऊपर, अधोलोक हैं नीचे, मध्यम लोक है मानव लोक, वह उसी तथ्य का विवेचक है। भावकी दृष्टि से मध्य और स्थानकी दृष्टिसे मध्य में रहने वाले लोगोंके लिए मध्य में आना समुचित ही है।

इस तथ्य का दूसरा पहलू भी है। श्रीराम प्रकाश में आये—आशय है उस कालकी उज्ज्वल स्थिति। अवतार-कालिक प्रकाश उस पर प्रकाश डालता है। हम देखते हैं, उस काल में अयोध्या अलग है, लंका अलग; स्थान की ही दृष्टि से नहीं भाव की दृष्टिसे भी। सज्जन और असज्जनकी स्पष्ट

सीमारेखा थी। एक ओर हैं सब असज्जन और दूसरी ओर सब सज्जन। मिथिला, अयोध्या सज्जनोंका वासस्थान, लंका असज्जनों का। मध्यमें है किष्किन्धा। वहाँ है सज्जनों और असज्जनोंका संगम। ऐसा संगम न अवधमें है न लंकामें, दो भावोंकी स्थिति नरोंमें नहीं वानरोंमें थी। नर और नरेतर का संगम ही तो वानर है। वहाँ है संशय—सत्-असत्का भाव। मानवों और दानवोंमें अलगाव स्पष्ट था, ऐसा अलगाव किसी भी समाजके लिए यथावत् नहीं है, यह बात भी उज्जवल है, प्रकाश-युग का चिन्ह है।

पर उस समय राक्षस-पक्ष कैसा है, यह देखना भी प्रसंगानुकूल होगा। लंकामें निशिचर रहते हैं। स्पष्ट है, निशिचर निशाका, अन्धकारका प्राणी है। पवनकुमारने वहाँ रात्रिमें ही प्रवेश किया था सबको सोते हुए पाया। विभीषण का जागरण देखा जाता है तब जब रामभक्त हनुमान् का चरण पड़ता है लंका भूमिपर। वहाँ जागरूक तो केवल वैदेही है। इस अन्धकार भूमिमें भी आलोक है। आश्चर्यचकित थे मारुतनन्दन! वहाँ ब्रह्मवेलामें वेदोंकी पावनध्वनि गूंज रही थी।

शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषं विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्।

लंकामें अग्निहोत्र होता है, सन्ध्यावन्दन होता है, वहाँ नास्तिक कोई नहीं। आस्थावान् हैं, तपोबलके प्रति, अगाध श्रद्धा रखते हैं— आराधनामें। संकटके क्षणोंमें यज्ञ और आराधना का

आश्रय लेते हैं वहाँ के लोग। केवल दूसरों को यज्ञादि कार्यसे विरत-रखना चाहते है, क्योंकि भय है उन्हें, उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न होने पाये। शाप-वरदानकी मान्यता है।

वानरोंकी ओर देखिए, किष्किन्धामें उनके विशाल भवन हैं। आदि कविने क्रमेण ऐसा वर्णन किया है जिससे प्रतीत होता है कि भवनोंपर उनके परिचय-पद है। बाली सन्ध्या वन्दन करने सागरोंपर जाता है, उसके निधनपर शास्त्र विधि से प्रेत-कार्य किया जाता है। आजकलके कुछ पण्डितम्मन्य लोग रावण और वानरोंको वैदिकेतर अनार्य कहते हैं, वे गतानुगतिक हैं, भेड़िया - धसानमें हैं, वस्तुतः आर्य अनार्य नामकी कोई जाति नहीं।

यही हैं उस कालका प्रकाश - पक्ष। उस समयका भयानकसे भयानक वनप्रान्त भी साधनापूत है। अतः श्रीरामका प्रादुर्भाव प्रकाशमें हुआ, अर्थात् राम जिस कालमें प्रकट होते हैं उस समय प्रकाश था—प्रकाशके लोग थे। साधनाका जैसा-तैसा रूप राक्षसों तकमें विद्यमान था, अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या।

किन्तु श्रीकृष्ण रात्रिमें—अन्धकारमें आये, स्पष्ट है कि श्रीकृष्णके कालमें त्रेतावाली सीमारेखा मिट चुकी थी। उस समय दानवों - राक्षसोंका कोई अलग नगर नहीं बसा है। वे तो सर्वत्र घुल - मिलकर रहते हैं। वे सर्वत्र हैं स्त्रीरूपमें, सखा

के रूपमें, पवित्र गाय बैल जैसे रूपोंमें। कंस कौन है? मामा परिवारका व्यक्ति है! जितने धर्म-विरोधी हैं सबके सब नाते-रिश्तेके लोग हैं। कंसको देखिए, न उसमें तपके प्रति आस्था है न यज्ञादिकमें श्रद्धा। यही है अन्धकार-पक्ष। उसमें श्रीकृष्णका अवतार हो, वह रात्रिमें हो, यह उचित ही है। अन्धकारके प्राणियोंके प्रति प्रभुका प्रादुर्भाव प्रशंसनीय है। चन्द्रवशमें प्रकट होनेवाला — रात्रिका आदर करता है, यह औचित्य भी है।

दोनोंमें समन्वय :—

समासमें उभयवंशावतंसोंका सुमधुर सामञ्जस्य भी दर्शनीय है, श्रीराम दिनमें प्रकट हुए, पर बहार रातकी थी। श्रीकृष्ण रात्रिमें आविर्भूत हुए, पर कार्य दिनका देखा गया।

व्रजवल्लभके प्राकट्य-क्षणोंमें निसीथ काल-आधीरात।
कृष्णपक्ष और गगनके आँगनमें छाये थे श्याम घन॥

पर आश्चर्यपूर्ण घटना यह घटी कि उस अंधेरेमें सूरज-का जादू चल गया। अवधूत शिखामणि श्रीशुकाचार्य कहते हैं 'ह्लदा जलरुहश्रिय:' सरोवरोंमें सरोज मुसकुराने लगे और उनपर मंडराने लगे—मधुकर। बताइये, आधीरातमें कमल कैसे खिलने लगे? कमल तो दिनमें खिलते हैं। सूर्यकी सुनहरी किरणोंमें पखुड़ियाँ—आँखें पसार कर नर्तन करती हैं पद्म की। वस्तुत: यह था रातमें नजरोंके सामने दिनका नजारा।

इधर देखिये रघुकुल भूषण रामभद्रको। वे प्रकट हुए। दिनमें, पर उनसे मिलने आ गयी रजनी रानी। कविकुल तिलक तुलसी कहते हैं~

अवधपुरी सोहै यहि भाँती प्रभुहि मिलन आई जनु राती।

इस उत्प्रेक्षणके परिवेषमें पूरा रूप प्रस्तुत कर दिया।

देखि भानु जनु मन सकुचानी,
तदपि बनी सन्ध्या अनुमानी।
अगरधूप जनु बहु अधियारी,
उड़इ अबीरमनहुं अरुनारी।
मन्दिर मनि समूह जनु तारा,
नृपगृह कलस सो इन्दु उदारा। इत्यादि।

एक अन्य चमत्कार देखिये। श्रीकृष्ण आये वर्षा ऋतुमें, किन्तु बसन्त ऋतु चुपचाप आ गयी। रिम-झिम बरसती बूंदों में रस बरसानेवाला रसिया भीगता हुआ निकला मथूरासे, मगर बागोंमें बसन्तकी बहार बगर गयी। शुकमुनि कहते है :—

'द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः।

वन कुसुमों से महक उठे, भ्रमर वृन्दोंका गुंजन छा गया, पंछी चहक उठे :—

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवह शुचिः।

शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा झूमती गयी! बताइये वसन्त में और क्या होता है?

इधर देखिये रघुकुलालंकार चूडामणि रामचन्द्रको। वे वसन्तमें महकते फूलोंमें पराग-की तरह उतरे—

बन कुसमित गिरिगन मनियारा।
स्रवहिं सफल सरितामृत धारा।।

गगन विमल·········

नौमी तिथि मधुमास पुनीता' तो था ही।

पर इस वसन्तमें बरसातसे नहीं रहा गया। पर बेचारी बरसात देवराजके मेघोंको कहाँसे लाये, हाँ देवोंने कुछ सहायता कर दी—

बरसति सुमन सुअञ्जलि साजी।

मकरन्दपूरित पुष्प बरसाने लगे तो रस बरसने लगा, पर थोड़ी-थोड़ी मन्द-मन्द गर्जना भी होनी चाहिए—

गह गह गगन दुंदुभी बाजी।

बरसातमें कीचड़ होती है, अयोध्याके गलियोंके बीच-बीच में कीच होगी—

मृग मद चन्दन कुमकुम कीचा।
मची सकल बीथिन बिच बीचा।।

इस प्रकार दोनों अवतारोंमें रहस्यात्मक साम्य है। लेखका कलेवर लघु रहे। इस दृष्टिसे संक्षेपमें दोनोंकी चर्चा की गयी। नारायण स्वामीजी एक बात अवश्य कह गये हैं—

नारायन दोउ एक हैं रूप रंग तिल रेख।
उनके नयन गम्भीर हैं इनके चपल विशेख।।

रघुकुल मणि सम्राट दशरथ

सूर्य वंश का राज घराना सदा से अत्यन्त सुसंस्कृत तथा उदात्त परम्पराओं का पोषक रहा है। उसकी सुदीर्घ साधना का ही सर्वश्रेष्ठ सुपरिणाम श्रीराम के रूप में विश्व के सामने आया था। श्रीराम-कथा के पावन-पद में इक्ष्वाकु-वंशियों का चारु चरित्र, सुवर्ण-सूत्रों का झिलमिलाता गुम्फन है।

हम देखते हैं, चतुरानन के इस प्रपञ्च - मञ्च पर जो थोड़ा-सा उच्चासन पा लेता है, प्रतिष्ठा के पायदान पर एक पैर भी जमा लेता है, वह इतर जनों से अपने आपको पृथक रखने का प्रयत्न करता है। अपनी दृष्टि से सामान्य जनों को दूर और उनकी दृष्टि से स्वयं को भर पूर दूर रखना चाहता है। अपने चतुर्दिक् कृत्रिम दीवारें खड़ी कर लेता है, जहाँ उसका बड़प्पन सुरक्षित रह सके। उसे डर लगा रहता है कि कहीं छोटे लोगों से मिलने एवं बातें करने में उसका व्यक्तित्व छोटा न हो जाय गरिमा न न गिर जाय, ऐसी मनोवृत्ति होती है लोकालय की। प्रत्यक्ष प्रयोगशाला का मथित सत्य यही है।

जब सामान्य पदारूढ़ पुरुषों की यह प्रकृति है तब उनसे अधिक अधिकार-सम्पन्न मानव पृथक् जनों की पहुंच से बाहर रहने में गौरव का अनुभव करने लगे तो क्या आश्चर्य। फिर एक-छत्र

सम्राट का तो कहना ही क्या ? इस धारणा-धारा से यदि कोई अलग है, इस सामान्य-नियम का यदि कोई अपवाद है तो वह है सूर्यवंश। महाराज दशरथ की बात लीजिये। वे दीर्घ दर्शी महा-तेजा, आर्य शिरोमणि, महर्षि कल्प राजर्षि, प्रतापशाली शासकों में वरिष्ठ हैं। समुद्र पर्यन्त समग्र वसुन्धरा उनके अधिकार-क्षेत्र में हैं, सुरेन्द्र - स्पृहणीय लोक - विश्रुत अजेय अयोध्या में उनका राजप्रासाद ही आठ कोस की विस्तृत सीमा में फैला है। उत्तुङ्ग अट्टालिकाएं सूर्यचन्द्र से बातें करती हैं। अन्तःपुर नारी-रत्नों की आभा से उद्भासित है। वैभव, विलास एवं प्रभाव के प्राचीर से परिवेष्टित उनका व्यक्तित्व कितना दुरूह है, जन सामान्य के लिये कितना दुर्लभ है उनका दर्शन ? पर अद्भुत राजेश्वर हैं दशरथ। आदि कवि उन्हें 'पौरजान पद प्रिय' विशेषण से विभूषित करते हैं, पुरवासी एवं जनपद के लोगों के लिये वे सहज-सुलभ है, परम प्रिय हैं। गोस्वामी तुलसीदास इस कथन पर अपनी मोहर लगाते हैं। वे कहते हैं, यदि ऐसा न होता तो पुत्र जन्मोत्सव के अवसर पर महलों में सर्व साधारण का प्रवेश कैसे सम्भव होता ? उनकी पावन पंक्तियाँ हैं—

> वृन्द वृन्द मिली चली लुगाई।
> सहज सिंगार किये उठि धाई॥
> कनक कलस मंगल भरि थारा।
> गावत पैठहि भूप दुआरा॥
> करि आरती निछावर करहीं।
> बार बार सिसु चरननि परहीं॥

इन चौपाइयों के चारु चरणों में कुछ शब्द बड़े मार्मिक हैं, विशिष्ट अर्थ गर्भित हैं। गोस्वामी जी कहते हैं। नगर-नागरियों के विविध वृन्द मिलकर राज महलों में प्रवेश कर रहे हैं। गंभीर-सन्दर्भ के परिवेष में हम कह सकते हैं कि 'झुंड, ईश्वर की ओर जा रहे हैं, यह एक अनूठी बात है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये ।
यततानामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ।।

सहस्रों मानवों में कोई बिरला ही ऐसा सौभाग्यशाली होता है जो सिद्धि के हेतु प्रयत्न करता है, और ऐसे सहस्रशः यत्नशीलों में कोई एक ही सफल होता है। पर यहाँ 'वृन्द-वृन्द' ईश्वर की ओर उन्मुख हैं। ऐसा कैसे हुआ ? इसका उत्तर है, 'मिलि चली' चाल में मेल है—लक्ष्य एक है, अन्तः करण परस्पर मिले हैं, इन्द्रिय चेष्टाएं मिली हैं, अतः अनेक होने पर भी एक हैं। एक की ओर जाने के लिये एक होना आवश्यक है। प्रश्न उठता है, यह ऐक्य किस साधन का फल है। इनके तन-मन - वचन तीनों को एकता की डोरी में बांधने वाली शक्ति क्या है ? इसका उत्तर है—'सहज सिंगार' यह शब्द बड़ा अनमोल है, उनके सहज - अकृत्रिम, हृदय - सौन्दर्य का बोधक है। श्रीराम के समीप जाने वाले सौभाग्यशाली का सर्वोतम रूप यही है। यह सहज भाव ही तो जीवन का असली श्रृंगार है। उसी को देखकर तो रीझता है वह रिझ-वार। अयोध्या वासियों में बनावट नहीं, ऊपरी दिखावट नहीं। आज हम दूसरों के द्वार पर जाते हैं तो कितना सजाते

हैं अपने आपको ! हो सकता है, दुनियाँ के सामने प्रदर्शित सज-धज प्रतिष्ठा का कारण बनती हो, पर श्रीराम के सामने कैसे जाया जाता है। वहाँ किस शृंगार से प्रतिष्ठा मिलती है, यह रहस्य तो अवध पुरवासी जानते हैं। 'सहज सिंगार' शब्द ने मानो यह सब कुछ कह डाला और इस 'सहज सिंगार' शब्द के आगे जो क्रिया है वह इसके गौरव को और अधिक स्पष्ट करती है—'उठि धाई। मानों जीवन में जहाँ यह सहज भाव आया कि ईश्वर की ओर चरणों की गति तीव्र हुई। यहाँ एक मधुर संकेत और है। स्नेहाकुल नवेलियां जगन्मोहन की ओर जा रही हैं। तीव्र गति से जा रही हैं क्या ये ईश्वर से कुछ चाहती हैं, कुछ लेने जा रही हैं ? या चक्रवर्त्ती के औदार्य से लाभ उठाने जा रही हैं ? नहीं, यह सब कुछ नहीं है यहाँ तो देना ही देना है लेना क्या ? आगे की पंक्तियाँ इस तथ्य की पोषक हैं—

कनक कलस भरि मंगल थारा।
गावत पैठहिं भूप दुआरा ॥

इस चतुष्पदी के प्रथम चरण के मध्य में 'भरि' शब्द है। उनका मंगल कलश भरा है, मंगल थाल भरा है, दोनों से भरे हैं उनके कर-कमल, चरण भरे हैं रामोन्मुख गति से, मुख पूरित है मधुर गान से, भाव भरा हृदय, रूप लालसा भरे लोचन। यहाँ खाली कुछ है ही नहीं याचना वह करे जो खाली हो-रिक्त हो-अभाव ग्रस्त हो। यहाँ तो ये सब देने-जा रही हैं। क्या देने जा रही हैं ? सोने के थाल, थाल में कनक-

कलश, कलश में पावन जल, कलश के ऊपर चौमुख प्रज्वलित दीपक । इन सबका उपयोग क्या है ?

करि आरती निछावर करहीं ।

द्रव्य कर दिया निछावर, प्रकाश से उतारी आरती और जल से धोये श्रीहरि के चरण । द्रव्य कर्म का फल है । प्रकाश ज्ञान की ज्योति है और जल उपासना की सजलता है कर्म का फल ईश्वर पर निछावर हो गया, प्रकाश स्वरूप ज्ञान की ज्योति प्रभु की झांकी की झलक देकर सार्थक हो गई पर उपासना की सजलता छू सकी चरणों को । प्रधानता भक्ति की हैं अतः उसका फल मिला—

बार बार सिसु चरनन परहीं ।

उन्होंने अपना सौभाग्य श्री हरि के चरणों में समर्पित कर दिया । अवध वासियों का कर्म, उनका ज्ञान, उनकी उपासना एक सूत्र में बंधी है-उन सबके विषय एक मात्र श्रीराम हैं । एक बात और । इस प्रभु की ओर बढ़ने में एक वैशिष्टय और है । अयोध्या का पुरुष वर्ग क्या कर रहा है । यह देखने योग्य बात है । गोस्वामी जी कहते हैं—

ब्रह्मानन्द मगन सब लोई ।

सब लोग ब्रह्मानन्द में डूब गये, पर, नारियों ने ब्रह्मानन्द को किया दूर से नमस्कार, वे तो उस ओर चलीं जहाँ वह परमानन्द छलक रहा था जिसके दर्शन मात्र से राशि-राशि ब्रह्मानन्द बिखरा पड़ता है—ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई । जिस

भगवदानन्द के सामने ब्रह्मानन्द झख मारता है उधर जा रहीं हैं अयोध्या की सौभाग्य शालिनी सीमान्तिनियां। उनके गरिमा से गुम्फित इस सौभाग्योदय को एक तुलना से समझें।

श्रीमद्भागवत में भाग्यभरी गोपियों का अनुराग—अनुपम माना गया है, उनका श्रीकृष्णानुराग त्रिभुवन - वन्दनीय बताया गया है। वे रास के अवसर पर श्री हरि की ओर सब कुछ छोड़कर दौड़ी थी। यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग में वात्सल्य छलकता है रासगोष्ठी में गरिमा है श्रृङ्गार की। पर एक क्षण के लिये श्रृङ्गार और वात्सल्य के विशिष्ट स्नेह - स्तर को एक ओर हटा दीजिये तो रह जायगा श्री हरि के प्रति विशुद्ध स्नेह। उस धरातल पर देखिये अवध नागरों एवं ब्रजनारियों का प्रेमोल्लास। ब्रज युवतियाँ दौड़ीं श्री श्याम की ओर और अवध बाला चलीं राम की ओर। ब्रज वल्लवी चलीं जिस दशा में थीं उसी दशा में अकृत्रिम भाव से और अवध नागरी चलीं सहज सिंगार से सर्वथा अकृत्रिम भाव से। गोपियों ने सुनी श्याम की मधुर मुरली ध्वनि, किन्तु अवध बामा क्या सुनकर दौड़ीं? यहाँ तो श्री हरि ने मुरली नहीं बजाई, कोई गाना नहीं गाया फिर क्या आकर्षण था? यहाँ तो गाना नहीं रोना अवश्य सुनाई पड़ा था वह भी प्रत्यक्ष नहीं परम्परया—

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।
संभ्रम चलि आई सब रानी॥

हरषित जहँ तहँ धाई दासी ।
आनन्द मगन सकल पुर बासी ।।

अत: वहाँ गोपियाँ श्याम की गान-तान से आकृष्ट हुई पर ये सब तो राम के रोने पर ही लोट - पोट हो गईं, ब्रज में ब्रजेन्द्रनन्दन ने वेणुवादन से रस सागर उड़ेला था, अवध में अवधेन्द्रनन्दन ने अपने रोने में ही मुरली की माधुरी, वीणाक्वणन मयूर-केका तथा कोकिल काकली को फीका कर दिया। वहाँ गोपियाँ दौड़ी थी, चुपचाप गई थीं, यहाँ नारी वृन्द गया गाता वजाता डंके की चोट पर–

गावत पैठहिं भूप दुआर ।

रास गोष्ठी में जाने वाली गोपियों की गमनक्रिया पर श्रीशुक मुनि कहते हैं– आजग्मुरन्योय मलक्षितोद्यमा–गोपियां श्रीकृष्ण के समीप आई । यहाँ 'आजग्मु—आई' क्रिया का प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि श्री शुक्राचार्य पहले से ही श्री कृष्ण के समीप हैं। गोपियों के साथ नहीं। क्योंकि लोक प्रसिद्ध है, हम जब कहते हैं—वह आया । तो इसका अर्थ है, हम वहाँ पहले से विद्यमान हैं और जब हम कहते हैं और जब कहते हैं—अमुक व्यक्ति वहां गया—इसका अर्थ है ,जहाँ वह व्यक्ति गया है वहां हम नहीं हैं। अब आप देखिये अवध की महाभागा महिलाओं की ओर। वहां ग्रन्थकार लिखते हैं–

वृन्द वृन्द मिलि चलीं लुगाई ।।

यहां 'गई' या 'आई' ऐसी क्रिया का प्रयोग नहीं है। यदि 'आई' कहते तो भागवतकार की तरह गोस्वामी श्रीराम के पक्ष में खड़े दिखाई देते और 'गई' कहते तो दोनों पक्षों से अलग रहते अतः सावधानी के साथ 'चली' क्रिया का प्रयोग किया। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार श्रीराम की ओर चलने वाले लोगों के साथ हैं—अवध नगर की नारियों के पीछे-पीछे उनकी चरणरेणु लेता हुआ चल रहा है ग्रन्थकार। भक्त और भगवान में भक्त का अनु-गमन श्रेयस्कर है, ऐसा सिद्ध किया और इसके साथ ही अयोध्या की नारियों का गौरव अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार दोनों स्थलों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है, और वह स्वाभाविक है दिन-रात में अन्तर होता है। यहाँ भी एक दिन की लीला है तो दूसरी रात की।

यह था अवध-भामिनियों का अद्‌भुत औदार्य, अद्‌भुत चातुर्य एवं विलक्षण प्रीति-रीति। इसका महत्वपूर्ण कारण है यथा राजा तथा प्रजा। रघुकुल मणि सम्राट दशरथ उदार शिरोमणि हैं, उनकी प्रजा में भी उसका दर्शन होता है। महाराज के महल प्रजा के अपने महल हैं, वहाँ वे अवाधगति से प्रवेश पाते हैं, कोई रोक-टोक नहीं।

यह केवल श्रीराम जन्म के हर्षातिरेक में दी गई अवसर विशेष की सुविधा मात्र नहीं है। यह क्रिया आगे भी चलती है। राजीवलोचन राम जब तक कौशल्या की गोद में हैं, मणिमय प्राङ्गण में क्रीड़ा करते हैं, तब तक अवधवासी वहाँ

जाकर श्रीराम का दर्शन करते हैं। इस पवित्र शिशु चरित्र का चित्रण करते हुए गोस्वामी जी इस रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए कहते हैं—

एहि बिधि राम जगत पितु माता।
कोशलपुर बासिन सुख दाता ॥

इस तथ्य को पुनः दुहराया—

एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा।
सकल नगर बासिन्ह सुख दीन्हा ॥

श्री प्रभु की बाल-क्रीडा के सुखसे कोसलपुरवासी वञ्चित नहीं हैं सम्पूर्ण नगर निवासी इस सुख का रसास्वादन करते हैं।

परिजन सुखदाई रघुराई बड़े हुए तो अधिक सुलभ हो गये पुरजनों के लिये। एक समय वह आया कि अयोध्या की गलियों में कौशिल्या का लाड़ला खेलने लगा। यह एक अनोखी बात है। सम्राट का प्राणाधिक प्रिय पुत्र श्री राम अवध कि गलियों में खेलता फिरता है। पद—प्रतिष्ठा, कुल गौरव कुछ भी वाधक नहीं ? एक सम्पन्न परिवार का बालक खेलने निकलता है तो एकाध सेवक उसके पीछे छाया की तरह लगा रहता है। एक मण्डलेश का बालक भी विशिष्ट स्थान पर खेलता है सर्वत्र नहीं, फिर उसका तो कहना ही क्या है जो सम्पूर्ण साम्राज्य का उत्तराधिकारी सम्राट का ज्येष्ठ श्रेष्ठ नयनाभिराम राजकुमार है, वह अकेले कैसे खेलेगा ? और

क्या वह सार्वजनिक स्थानों पर सर्व साधारण बालकों के साथ धूल धूसरित हुआ घूमेगा ? नहीं, नहीं कदापि सम्भव नहीं। फिर भी खेलता है—

लरिका संग खेलत डोलत हैं—गीतावली

यह अनूठी लीला सूर्यवंश में घटित हो सकती है।

गगनगामी सूर्य अपने प्रकाश से किस घर को वञ्चित करता है ? क्या उसकी दृष्टि में कोई छोटा बड़ा है, क्या वह मानव-मानव में भेद बरतता है, क्या उसकी प्रभा वेदज्ञ ब्राह्मण के याग-पूत घर में जायगी, चाण्डाल के हिंसा-दूषित घर में नहीं जायगी ? ऐसा कैसे हो सकता है, मानवों की बात छोड़िये, वन खण्डों के घातक प्राणियों को भी अपनी सुनहली किरणों से अनुप्राणित नहीं करता है ? महाराज दशरथ उस वंश के सर्वथा अनुरूप शासक हैं। श्रीराम को सर्वजन-सुलभ करने का श्रेय महाराज की उदार एवं उदात्त मनोवृत्ति को है। वे प्रजा के साथ घुल मिलकर रहने वाले शासकों में से अन्यतम हैं।

वेदावतार आदिकाव्य में महर्षि बाल्मीकि श्रीराम की श्लाघा के साथ दशरथ का गुणगान करते चलते हैं। एक स्थल पर रामवनवास से व्यथित अवधवासी कहते हैं

दान यज्ञ विवाहेषु समाजेषु महत्सु च,
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा।

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम्,
इति रामेण नगरं पितृवत् परिपालितम् ।

वा० रा० २-५७-१३, १४

दान यज्ञ विवाह एवं महान् समारोहों के अवसर पर हम धार्मिक श्रीराम को अब न देख पायेंगे। इस जन के हेतु क्या क्षेमकर है, कौन वस्तु प्रिय है क्या सुखद है इस चिन्ता के साथ पिता दशरथ की तरह ही श्रीराम ने नगर का परिपालन किया है। इन श्लोकों की टीका में भूषणकार कहते हैं कि अवधवासी चिन्ता करते है, कि दानादिक के मध्य में मालागत नायक मणिवत् वर्तमान राम को न देख पायेंगे। दान के अवसर पर वे क्यों रहते हैं? देश काल एवं पात्र के अनुरूप दान हो, विपरीत नहीं यह देखने के लिये। यज्ञ में क्यों जाते हैं? इसलिये कि यज्ञ न्यायार्जित धन से ही सम्पन्न हो, यज्ञ में जहाँ सन्देह हो उस कर्म-दोष को दूर करने के लिये विस्मृत कार्य का स्मरण कराने के लिये जाते हैं। विवाहों में क्यों जाते हैं? उभय वर्ग का मेल कराने के लिये, द्रव्यादि की कमी को दूर करने के लिये एवं पूर्ण रूप से कार्य सम्पन्न कराने के हेतु उपस्थित होते हैं।

पर क्या ये गुण केवल श्रीराम के हैं? पितृ-परम्परा से इनका सम्बन्ध नहीं है? नहीं, आदिकवि ने स्पष्ट किया—'पितृवत् परिपालितम्' श्रीराम का कोई नया मार्ग नहीं, उनकी कोई नयी परिपाटी नहीं, यह उनका कोई लोक विलक्षण कार्य नहीं यह सब तो उन्हें पिता से विरासत में मिला। ये गुण

दशरथ में हैं श्रीराम में संक्रान्त हुये हैं, उनका अनुसरण किया है उन्होंने,

गोस्वामीपाद कहते हैं—

जेहि विधि सुखी होंहि पुर लोगा ।
करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा ।।

इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र को अपने लोकोत्तर चरित्रों को सार्थक करने में, अपने कल्याण गुण गणों को सफल करने में पूज्य पिता का प्रजा के प्रति अप्रतिम प्रेम, आधार भूत होता है। फलतः वे प्रजा के प्राणाधिक प्रिय बन जाते हैं।

कोसल पुरवासी नर, नारि वृद्ध अरु बाल ।
प्रानहु ते प्रिय लागत, सब कहँ रामकृपाल ।।

श्रीराम का यह कृपालुरूप उत्तरोत्तर पल्लवित पुष्पित तथा फलित होता गया। हम यह मानते हैं, निषादराज गुह के साथ राजकुमार राम की मैत्री सम्राट की देख रेख में ही सम्पन्न हुई थी, यही मामना न्यायोचित तथा तथ्य सगत हैं। इस दृष्टि से निषाद को गले लगाने में श्रीरामभद्र को जो ज्वलन्त कीर्ति मिली उसका अधिकांश श्रेय महाराज के औदार्य को है। उन्हीं के द्वारा प्रदर्शित अद्‌भुत भाव की भव्य भित्ति पर रघुपुंगव का 'भुवन मोहन' 'गरीब निवाज' दीन-बन्धु, रूप विरुद हृदयावर्जक होकर उभरा है। अन्यथा पिता के संकेत पर निछावर होने वाले श्रीराम पिता की इच्छा के विरुद्ध कलुषित भील को भला कैसे गले लगाते ? कैसे उसे

अन्तरङ्ग मित्र बनाते ? वे तो पिता के वचनों पर स्वयं को सर्मपित कर डालने वालों में अग्रणी हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेय मपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेय मपि चार्णवे ।।
वा० रा० २-१८

'मैं पिता की आज्ञा से जलती आग में कूद सकता हूं, भयानक विष पी सकता हूं और अथाह सागर में समा सकता हूं'। इतना मर्यादाशील राजकुमार निषाद को अपना प्रिय सखा मानता है। स्पष्ट ही इस सम्बन्ध पर सम्राट की स्वीकृत की मोहर लगी है।

निषादराज के परिचय में आदि कवि कहते हैं—'रामस्यात्मसमः सखा'–२-५०-३२। निषाद श्रीराम का प्राणोपम सखा था'। इस श्लोक की व्याख्या में 'विषम पद विवृतिकार' कहते हैं।

—'परमधर्मज्ञ श्रीराम ने हीन जाति के निषाद से मित्रता की थी, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए। क्योंकि भगवान् के अवतार, महाराज पृथु के पिता वेन का शरीर ब्राह्मणों के द्वारा मथा गया था उससे उत्पन्न हुए निषाद गण, अतः निषाद क्षत्रिय हैं, इसीलिये निषादस्थपत्यधिकरण में 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इस श्रुति वाक्य के द्वारा निषादस्थपतियों का याजनाधिकार संगत होता है। मीमांसकों ने उक्त प्रकरण में ऐसा ही विवेचन किया है। अतएव राम के भोजनार्थ निषाद

के द्वारा भात का लाना विरुद्ध नहीं है। यद्यपि धर्मशास्त्र के हीन प्रकरण में निषादों की गणना की गयी हैं, पर वह विलोम जात निषादों के विषय में है। यदि यह कहा जाय कि फिर विलोम जातों को 'निषाद' संज्ञा से सम्बोधित क्यों किया गया? इसका उत्तर है—'वहाँ निषाद शब्द का प्रयोग गौण है'।

ऐसी ही शंका गोविन्दराज ने भूषण टीका में उठाई है कि हीन की दासता, हीन का सख्य तथा हीन के गृह में निवास, उपपातकों में परिगणित है, तब महाकुल प्रसूत श्रीराम का हीन जाति के साथ मैत्री करना कहाँ तक उचित है? इसके उत्तर में पूर्वोक्त श्रुति वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा गया है उक्त श्रुति प्रमाण से ऐसा सख्य अत्यन्त अनुचित नहीं है। अन्त में भागवत धर्म के धरातल पर समाधान देते हैं—

न शूद्रा भगवद् भक्ता विप्रा भागवता स्मृताः।
सर्व वर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥

भगवदभक्त शूद्र नहीं होते, वे भागवत तो ब्राह्मण हैं, वास्तव में सम्पूर्ण वर्णों में शूद्र वे हैं जो जनार्दन के प्रति भक्तिमान् नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि आदि काव्य की विमल विचार धारा में न यह शंका बनती है न समाधान। महर्षि बाल्मीकि समाधिस्थ होकर रघुकुल नायक श्रीराम के चरित्रों का चयन करते हैं, उनकी वाग् विभूति में ऐसा एक

भी स्थल नहीं जहाँ निषाद को गर्हित बताया हो। इसका कारण यह नहीं कि वह क्षत्रिय जाति का है। जाति का निर्णय इस आधार पर किया जायगा तब तो सुग्रीव के साथ मित्रता में उसकी उच्च जाति का अन्वेषण होगा। कहा जायेगा कि वह सूर्य तनय है अतः सूर्य जाति का है, या देव अंश है अतः देव जाति का है। फिर समस्या आयेगी गृद्ध - जटायु की। यह तिर्यक योनि का अधम पक्षी संख्य के योग्य कैसे सिद्ध होगा ? वह केवल राम का ही नहीं वह तो दशरथ का मित्र है। इस दशा में उसकी जाति का अन्वेषण कैसे किया जायगा ? यदि कहा जाय कि वह तो कश्यप का पुत्र है, कश्यप ब्राह्मण है, तब कश्यप की सन्तान तो कुत्ते भी हैं और अधिक क्या कहा जाय सारी सृष्टि के रचयिता वेदविद् ब्रह्मा है, उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण प्राणी ब्राह्मण हैं, सब ब्रह्म रूप ही हैं, या फिर सब ईश्वर अंश हैं तो ईश्वर की सन्तान हैं, उस दशा में निषेध का विषय कहाँ मिलेगा ?

अब हम श्रीराम की दृष्टि से भी विचार कर लेना उचित समझते हैं। क्या श्रीराम की मित्रता किसी हीन - जाति के व्यक्ति से नहीं हो सकती ? वे केवल उच्च - वर्ण के लोगों को ही अपना सखा मान सकते हैं ? और इस प्रकार का दावा राम को राजकुमार मानकर महापुरुष अथवा परमात्मा समझकर किया जा सकता है ! हमारी दृष्टि से यह दावा सभी स्तरों पर सर्वथा थोथा है। हमारे राजधर्म में मित्र प्रकरण के अन्तर्गत आटविक सखा का महत्व उपवर्णित है।

वहां जाति नहीं क्षमता का उल्लेख है। इसी दृष्टि से निषादराज गुह रघुकुल का अभिन्न मित्र है। खरी राजनीति में तो यहाँ तक कहा गया है कि अपना पड़ौसी राष्ट्र शत्रु राष्ट्र होता है और उस राष्ट्र का पड़ौसी अपना मित्र। जैसे भारत का पड़ौसी राष्ट्र पाकिस्तान वह है शत्रु राष्ट्र। उसका पड़ौसी अफगानिस्तान हमारा मित्र। भारतीय यथार्थवादी राजनीति में शत्रु - मित्र की ऐसी ही परिभाषा दी है। अतः श्रीराम यदि राजकुमार हैं—तब भी उनका निषाद से मैत्री करना अनुचित नहीं सर्वथा उचित है। उनका महापुरुष रूप तो इस निषेध का और भी अविषय है। महापुरुष तो वही है जो सबके साथ मैत्री स्थापित कर सकता है। वैदिक ऋषि कहता है—'मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा, सबको मित्रता की दृष्टि से देखो। जातिगत, दलगत, वर्गगत भेद से जो ऊपर उठ जाता है वही महामानव है। विश्व के समस्त महापुरुषों के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है। फिर भी रामभद्र तो सब कुछ हैं, राजकुमार हैं, महापुरुष हैं, साक्षात् अनंत कोटि ब्रह्मांड नायक सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन भक्त - जन पारिजात परब्रह्म परमात्मा हैं। ऋग्वेद का ऋषि कहता है 'इस शरीर रूपी वृक्ष पर सुन्दर पांखों वाले दो पक्षी रहते हैं, वे दोनों सदा साथ रहने वाले सखा हैं।' इस कथन से जीवात्मा और परमात्मा को सखा बताया गया हैं। गीता में गोविन्द का गीत है—'सुहृदं सर्वभूतानाम् ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति' सम्पूर्ण प्राणियों का मैं

सखा हूं जो ऐसा जान लेता है उसे परम शान्ति उपलब्ध होती है।' हरि मन्दिरों में प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है :—

'त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।'

तुम्हीं हमारे बन्धु और तुम्ही हमारे सखा हो।

सन्तों के श्रृंगार, भारतीय संस्कृति के कण्ठहार गोस्वामी तुलसीदास जी तो कहते है—

स्वारथ रहित सखा सबही के।

श्री जानकी वल्लभ हरि कहते हैं—

ये सब सखा सुनहु मुनि मोरे।

इसलिये हम कह सकते हैं कि नीचातिनीच को भी सखा मानकर उसे गले लगाने में श्रीराम का गौरव है, उच्च वर्ण एवं उच्चकुल की कीमत तो सब करते हैं केवल मानवता के नाते अपनाना ही महा - मानवता है। यह बात श्रीराम के चरित्र - प्रसूनों का सौरभ है। उनकी बात छोड़िये, राजेन्द्र-चूड़ामणि सम्राट दशरथ ऐसे ही लोगों से विशेष स्नेह - सम्बन्ध रखते हैं, उनका दुलारा राम उनका अनुसरण कैसे न करेगा! इस बात को कौन नहीं जानता कि दशरथ के मित्रों में एक पक्षिकुल का प्राणी भी बताया गया है। इस सम्बन्ध का सगौरव उल्लेख अधम खग जटायु ने किया—वयस्यं पितुरात्मनः—राम! मुझे तुम अपने पिता का मित्र समझो।" गौरव शालिनी इस परम्परा में जटायु की धूल को जटाओं से झाड़ने वाले श्री रामभद्र की कीर्ति का दुन्दुभिनाद महाराज दशरथ का औदर्य कर रहा है—

अधिक कहा जेहि सम कोउ नाहीं।

राम लखन की जोड़ी

●

एक नीति-निपुण का निष्कर्ष है :—

समान - शील - व्यसनेषु सौहृदम् ।

सौहृद~मित्रता, प्रीतिभाव, समान स्वभाव के लोगों में होता है, भिन्न स्वभाव के लोगों में नहीं। पुरुष - प्रीति - पारस के पारखी, पूज्यपाद गोस्वामी जी ऐसा ही मानते हैं 'प्रीति विरोध समान सन करिय'। एक फारसी का कवि कहता है—

कुनद हम जिन्स बा हम जिन्स पर - वाज ।
कबूतर बा कबूतर बाज बा बाज ।।

समान समान के साथ उड़ान करता है, कबूतर कबूतर के साथ, बाज बाज के साथ।

एक हिन्दी का कवि कहता है—

वेद को वेद गुनी को गुनी, ठग को ठग, सूम को सूमहिं भावे ।
काग को काग, मराल मराल को पीठ गधा को गधा खुजलावे ।।
'कृष्ण' भने बुध को बुध त्यों अरु रागी को रागी मिले सुख पावे ।
ज्ञानी सो ज्ञानी करे चरचा लबरा के ढिगे लबरा चलि जावे ।

यह है लोक का अनुभव, यह एक प्राकृतिक करिश्मा है। फिर भी यह प्रकृति की रंगशाला विचित्र हैं, ठीक इसके विप-

रीत जोड़ी की हम चरचा कर रहे हैं। वह है राम लखन की जोड़ी। इस जोड़ी में एक है स्थिर गम्भीर और सरल। दूसरा दिखता है, चंचल, चपल, तरल और टेढ़ा। एक सांवला दूसरा गोरा, बिलकुल अलग-अलग। यदि एकार्थक एक वाक्य को दोनों बोलें तो अर्थ सर्वथा दोनों का भिन्न हो जायेगा, ऐसी विलक्षण बात है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। श्रीराम ने परशुराम से एक वाक्य कहा—

छुअतहि टूट पिनाक पुराना।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

छूते ही धनुष टूट गया, वाक्य इतना सा है। पर प्रभु का निष्कर्ष है—'मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।' ठीक यही वाक्य श्री लक्ष्मण ने कहा—

छुअत टूट रघुपतिहिं न दोषू।
सुनि बिनु काज करिय कत रोषू॥

जब छूते ही धनुष टूट गया तो श्री रघुपति का क्या दोष है ? मुने ! अकारण क्रोध क्यों करते हैं ? यह है लक्ष्मण का निष्कर्ष। श्रीराम का अर्थ सरल, लक्ष्मण जी का अर्थ टेढ़ा। परशुराम जी तो रोष में थे वहां होश का प्रश्न नहीं था अन्यथा वे जिरह कर सकते थे कि श्रीराम धनुष छूने क्यों गये ? भरी सभा में जिसके उठाने की बात कही गई थी उसे छूने गये थे श्रीराम ? क्या वहाँ छुआ-छुई का खेल हो रहा था ? अतः यह दलील सरासर असत्य पर आधारित है, यदि

कहा जाता कि धनुष पुराना था तो तर्क साफ था, पुराना क्या केवल राम को था अन्य राजाओं के लिए नया हो जाता था। पर लक्ष्मय जी का कथन तो बड़ा टेढ़ा था, सुनने में सरल और चिढ़ाने वाला पर कथन था चौकस।

संसार में प्रत्येक वस्तु का, व्यक्ति का एक समय होता है, उसके उत्कर्ष की एक सीमा होती है, उसमें दूसरे लोग तो देखने मात्र के हैं, धनुर्भंग का काल आचुका था, श्रीराम तो निमित्त मात्र थे। यही था छूना। लक्ष्मण जी यह बात कह रहे हैं परन्तु कथन का ढंग चुभने वाला था। इसी से आप समझ सकते हैं कि रामानुज की कथन-शैली श्रीराम से सर्वथा भिन्न हैं।

इतने पर भी दोनों का सम्बन्ध घनिष्ठ है, दोनों एक दूसरे पर प्राण निछावर करते हैं।

एक प्राण, एक तन, एक मन। विश्व का, विश्व के वाङ्मय का अद्वितीय उदाहरण। इस साहचर्य पर शब्द शास्त्र, काव्य शास्त्र एवं अध्यात्म शास्त्र अपनी स्वीकृति की मोहर लगाते हैं। शब्द शास्त्र कहता है— राम लखन की जोड़ी अलगायी नहीं जा सकती, कैसे ? गवाही लीजिये एक आप्त पुरुष की। शब्द शास्त्र के महापंडित वैयाकरण-शिरोमणि आचार्य पाणिनि ने चौदह सूत्रों की रचना की— चौदह भुवनों की तरह जिनमें सम्पूर्ण शब्द संसार बस गया है। सूत्रों

में स्वरों से लेकर व्यंजनों तक सारा वर्ण समूह क्रमशः समाया हुआ है। उसके दो सूत्र हैं, 'ह य व र ट्,' ल ण्,' क्रम से ह य व र ल यंजन बताये गये हैं इसमें र के पश्चात् ल स्थित है। शब्द क्रम बताता है 'र' के बाद 'ल' राम के समीप लक्ष्मण। हिन्दी की वर्णमाला इस क्रम का समर्थन करती है। उसका क्रम है य र ल व। र–ल साथ, राम के साथ लक्ष्मण।

संस्कृत परम्परामें "रलयोरभेदः" कहा जाता है। र, ल में भेद नहीं है। इस कथन को बल देता है लोकानुभव। छोटे बच्चे से राम शब्द कहने को कहा जाय तो वह कहेगा 'लाम' और बाद में समझ आने पर कहेगा राम। लाम के वाद राम का उच्चारण लोक प्रसिद्ध है, लक्ष्मण के आगे राम रहते हैं, यह संकेत।

उच्चारण स्थान की दृष्टि से देखिये—

व्याकरण की दृष्टि से रकार का उच्चारण - स्थान मूर्धा है। "ऋटुरषाणां मूर्धा" ऋ, ट वर्ग, र और ष का उच्चारण स्थान मूर्धा है। अब देखिये लकार को। उसका स्थान है दन्त। 'लृ तु ल सानां दन्ताः,' लृतवर्ग ल और स का उच्चारण स्थान दन्त है। मूर्धा तालू से ऊपर का स्थान है और दांत हैं मुख के द्वारपाल, मूर्धा के रक्षक। श्रीराम हैं मूर्धा और लक्ष्मण हैं दन्त, श्रीराम - द्वारके पहरेदार। महर्षि बाल्मीकि ने बताया है कि श्री लक्ष्मण केवल वनों में ही श्रीराम की रक्षा में सन्नद्ध नहीं रहते थे, वे महलों में भी श्रीराम के प्रवेश-

द्वार पर धनुषवाण लेकर रक्षा करते थे। जब महाराज दशरथ के बहुमान्य सुमन्त मंत्री श्रीराम को बुलाने गये और वहाँ से लौटने लगे तो आदि कवि कहते हैं—

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरि-गुहाशयः।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रह्वांजलि पुटस्थितम् ॥

वा० रा० आयो० १६-२६

जैसे गिरिराज की गुहा का निवासी सिंह, पर्वत से निकलता है वैसे राम अपने भवनों से निकले तो द्वार पर अंजलि बांधे सिर झुकाए लक्ष्मण को देखा।" इसलिए हमने कहा है कि लक्ष्मण सदा राघवेन्द्र की रक्षा में रहते हैं।

यहाँ तक हमने शब्द शास्त्र की दृष्टि से दोनों को अभिन्नता पर विचार प्रस्तुत किया। अब काव्य साहित्य की साक्षी भी लीजिए।

काव्य एक पुरुष है, शब्द अर्थ उसका शरीर है, शब्दालंकार और अर्थालंकार है उस शरीर को अलंकृत करने वाले गहने, काव्य पुरुष की आत्मा है रस।

इसके अनुसार श्रीराम अर्थ हैं तो लक्ष्मण उस अर्थ का व्यक्ति करने वाले शब्द हैं। जब लक्ष्मण बोलते हैं तो श्रीरामभद्र का रहस्य प्रकट होता है।

लक्ष्मण एक बार बोले, मिथिला में। मिथिला सरोवरों को सजलता से हरी भरी है, दुबारा बोले चित्रकूट पर। चित्र-

कूट के कंठ में है मंदाकिनी की माला। तिवारा बोले सागर के तट पर, लंका के समीप।

सरोवरों का सौंदर्य रंग - बिरंगे कमलों से है, नदी की प्रशंसा प्रवाहशीलता में है और समुद्र का सौंदर्य उसकी गहराई में। अतः मिथिला में लक्ष्मण के बोलने से श्रीराम के रंग - बिरंगे सौन्दर्य का बोध हुआ। उनका सौन्दर्य उनका शील उभर कर लोगों के सामने आया। चित्रकूट में लक्ष्मण का बोलना श्रीराम के प्रेम प्रवाह को व्यक्त करता है संकल्प की अखण्ड धारा को प्रकट करता है। सागर के तट पर लक्ष्मण का कथन, श्री रामभद्र के व्यक्तित्व की गहन गहराई को सामने लाता है। सभी जगह इनके बोलने के पश्चात् ही लोग समझ पाये कि श्रीराम का क्या अर्थ है। यह थी शब्दार्थ की एक दृष्टि।

अब अलंकारों के लालित्य में 'लालन योग लोने' लखन की ललक भी लखने योग्य है।

गोस्वामीपाद, विनय - पत्रिका में कहते हैं 'राम घनश्याम तुलसी पपीहा,। राम श्याम-घन है। अथवा मानस में—

'लोचन अभिरामा तन घनश्यामा' इत्यादि श्रीराम श्याम घन हैं, श्यामल वर्ण मेघों का एक अनूठा सौन्दर्य है, पर श्याम घन में चमक बिजली से आती है और वह विद्युत है श्री सुमित्रा के सपूत श्री लक्ष्मण। हमारे मानसकार कहते हैं—

दामिन बरन लखन सुठि नीके।
नख सिख सुभग भावते जीके ।।

लक्ष्मण बड़े नीके हैं, कैसे ? दामिन वरन, विद्युत वर्ण है। जैसे बिजली बादलों से अलग नहीं, वैसे ही लक्ष्मण श्री राघवेन्द्र से अलग नहीं। बिना बादलों के बिजली का अस्तित्व नहीं, बिना राम के लक्ष्मण की कहीं स्वतंत्र सत्ता नहीं। ऐसी जोड़ी है दोनों की। मानस में तथा गीतावली में ऐसी अनेक उपमाएँ हैं, जिनसे दोनों की अभिन्नता, दोनों का साहचर्य स्पष्ट होता है। उपमा अलंकार का एक उदाहरण और देखिये—

अभिनन्दनीय श्री रघुनन्दन वन में आये हैं, साथ में हैं मिथिलेश किशोरी और ललित लक्ष्मण। रघुवीर के राजीव-लोचनों से जल छलक पड़ा, जब उन्हें श्री अयोध्या की याद आई। काव्य के नन्दन वन, कवि शेखर श्री तुलसीदास जी महाराज, शब्द प्रसूनों की सुगन्ध बिखेरते हुए बोले—

जब जब राम अवध सुधि करहीं।
तब तब बारि विलोचन भरहीं ।।
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई।
भरत सनेह सील सेवकाई ।।
कृपा सिंधु प्रभु होहिं दुखारी।
धीरज धरहिं कुसमय विचारी ।।

आखिर प्रभु तो कृपा सागर हैं जब स्मरण का समीरण-पवन चलता है तो छलक-छलक पड़ती हैं करुणा की बूदें नयन

तटों से टकरा कर। इस पर लक्ष्मण की स्थिति क्या हुई ? इसका चित्र खींचते हैं गोस्वामी जी। ऐसा चित्र जिसमें छाया भी दिखाई गई है 'शैडो' दिया गया है। वह छाया क्या है ? कहते हैं—

लखि सिय लखन विकल होइ जाहीं।
जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं ॥

लक्ष्मण छाया हैं। श्रीराम काया हैं तो छाया हैं लक्ष्मण। भला काया से छाया कैसे अलग हो सकती है—राम से अलग रामानुज कैसे रह सकते हैं। इस उपमा अलंकार ने लक्ष्मण को श्रीराम से अभिन्न सिद्ध कर दिया।

वैसे श्री गोस्वामी जी ने राम रंग में रंगे श्री भरत जी को छाया कहा है—

भरतहिं जानि राम परिछाहीं।

इस कथन का विशेष अभिप्राय है और वह यह कि श्री भरत राघवेन्द्र की इच्छा का अनुसरण करने में अद्वितीय हैं। वे प्रभु की आज्ञा का पालन करते हैं इसलिए उन्हें परिछाहीं कहा है। पर इसका एक दूसरा पक्ष भी है—छाया साथ नहीं छोड़ती। इस दृष्टि से तो श्री लक्ष्मण, प्रभु की छाया हैं, उनके पक्ष में यह बात अधिक संगत बैठती है। वे छाया की तरह श्रीराम के पीछे चलते हैं। छाया का उद्‌गम चरणों से, चरणों से ही जुड़ी और चरणों में लीन। बाल्यकाल से ही दर्शन होते हैं चरण स्पर्शी छाया के—

बारेहि ते निज हित पति जानी ।
लछिमन रामचरन रति मानी ।।

घर बाहर वन में, रण में, सदा साथ। श्रीराम - विश्वामित्र का अनुगमन करते हैं तो लक्षमण होते हैं राम के अनुगामी।

हाँ परछाहीं साँवली होती है, पर श्री लक्ष्मण श्रीराम की ऐसी छाया हैं जिसमें श्यामता का नाम नहीं। बिलकुल उज्ज्वल, कान्तिमान, अग्नि में तपी तपायी, देदीप्यमान सुनहली आभा से छविमान।

यद्यपि श्रीराम - प्रेम पीयूष से पूरित - अपार पारावार जैसे गम्भीर हैं भ्राता भरत, किन्तु लक्ष्मण की बाँकी छटा भी सर्वथा निराली है। लीला के क्षेत्र में भरत लक्ष्मण दोनों भाई हैं पर दोनों में एक मौलिक अन्तर है। श्री भरत कहते हैं मैं श्रीराम का हूं। इस भावना से भरा भक्त भगवान की प्रत्येक आज्ञा का पालन करता है। जिसने अपने आपको सर्वात्मना सौंप दिया है, उसे हक नहीं कि वह अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा रक्खे। जिस पदार्थ का जो स्वामी होता है, वह स्वामी उस वस्तु को जब जहाँ और जैसे चाहे रख सकता है। भरत तो ऐसे ही अनोखे भक्तों में हैं, श्री भरत जी का सिद्धान्त वाक्य है,

आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।

अथवा—**जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई।**
करुना सागर कीजिय सोई ।।

प्रभु की आज्ञा, प्रभु का संकेत, प्रभु की इच्छा, श्री भरत का सर्वस्व है। श्रीराम भी ऐसा मानते हैं। चित्रकूट पर भी भरत का आगमन सुनकर एक बार तो श्री रघुनन्दन के मन में उथल पुथल मच गई। वे संशय में पड़ गये, प्रेमी भरत मुझे लौटाने तो नहीं आया ? पर दूसरे ही क्षण आश्वस्त हो गये, उनका समाधान हो गया—

समाधान तब भा यह जाने।
भरत कहे महं साधु सयाने ।।

भरत आज्ञाकारी समझदार साधु पुरुष हैं, प्रभु निश्चिन्त हो गये। लक्ष्मण की भावना इससे भिन्न प्रकार की है। श्री भरत कहते हैं—मैं श्रीराम का हूं, वहाँ लक्ष्मण कहते है—राम मेरे हैं। यह महत्वपूर्ण अन्तर है। सुनने में कोई विशेष भेद नहीं जान पड़ता पर विश्लेषण करने पर भेद स्पष्ट होता है—लक्ष्मण जी का सिद्धांत वाक्य है—

मोरे सबहिं एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी ।।

अथवा

सुर नर मुनि सचराचर सांई।
मैं पूछहुं निज प्रभु की नाई ।।

आप मेरे स्वामी हैं, निज प्रभु हैं।

इस भव्य भावना के अनुसार श्रीराम एक ऐसे दिव्य धन जिसके रक्षक हैं लक्ष्मण।

उनकी दृष्टि में श्रीराम की आज्ञा मुख्य नहीं। श्रीराम का सुख मुख्य है, श्रीराम की रक्षा मुख्य है। जहाँ उन्हें इसमें बाधा दिखाई दी, वे स्पष्ट आज्ञा का उल्लंघन कर देते हैं। यदि श्रीराम कहते हैं—साथ न चलो लक्ष्मण ! रक्षा करो अयोध्या की, रक्षा करो महाराज दशरथ की। वे इस कथन में सहमत नहीं हुए। होते भी कैसे ? लक्ष्मण के धन हैं श्रीराम। उनका धन उनसे दूर हो रहा हो, अरक्षित वनों में जा रहा हो, उसे वे कैसे अकेले छोड़ देगें ?

इस भावना से एक बात और स्पष्ट होती है। लक्ष्मण के वे प्रभु हैं, तो प्रभु का राज्य भी उनका अपना है। यदि उनके प्रभु को वन का आदेश होता है तो उनके राम का वनवास भी उनका अपना हैं। फलतः आज्ञा न होने पर भी वे वन गये। जो आज्ञा नहीं थी उसे माना और जो आज्ञा थी उसे नहीं माना। यह था विधि विधान से परे प्रेम का प्रखर रूप।

वीरधुरीण लक्ष्मण अपने जीवन - धन की रक्षा में किसी पर विश्वास नहीं करते। एक झांकी देखिए। लंका की भूमि में सुवेल शैल के समुन्नत शिखर पर रघुधुरीण श्रीराम विराजमान हैं। सागर की लहरें उठ - उठकर सुवेल शैल के चरण पखार रही हैं, चांदनी रात है, लहर-लहर में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है, मानो गगन का चन्दा लाख - लाख रूप बनाकर लख रहा है श्रीरामचन्द्र को या निछावर हो रहा है। सुवेल शैल

के मस्तक पर उजली - उजली स्फटिक शिला, शिला पर बिछे कोमल किसलय, उनपर सुगन्धित, रंगबिरंगे सजे हुए सुमन, सुमनों पर फैली हुई सुनहली मृगछाला। मृगछाला पर नयनाभिराम करुणाधाम श्रीराम, उनकी रक्षा में सन्नद्ध हैं विशाल वानरी सेना, निश्छल नवीन सखा विभीषण, विनय प्रेम और, पराक्रम के प्रयागराज पवनकुमार, बलबुद्धि के अगाध संगम बालिकुमार अंगद तथा विश्वास के अखण्ड पात्र वानरराज सुग्रीव। जिन सुग्रीव की मोदभरी गोद में सिर रखकर सोये हैं विश्रामधाम।

प्रभु कृत सीस कपीस उछगा !

प्राण हथेली पर लिए सेनापति, सेना, सखा, संलग्न थे सेवा में। वहाँ किस पर अविश्वास ? पर शेषावतार लक्ष्मण अपने सेवा व्रत शिथिल नहीं करते। वे सतत जागरूक हैं, अटल सेवा व्रती, धीर-वीर पहरेदार।

प्रभु पाछे लछिमन बीरासन।
कटि निषंग कर बान सरासन॥

प्रभु राम के नयनाभिराम नयनों में रहती है सुख की नींद और लक्ष्मण के भुजदण्डों में रहता है कोदण्ड। श्रीराम सुख से सोयें, इसके रक्षक हैं लक्ष्मण।

इस प्रकार हम देखते हैं, श्रीराघवेन्द्र दिव्यधन हैं उसका रक्षण करते हैं लक्ष्मण। लोक में एक बात प्रसिद्ध है कि जिस व्यक्ति को धन प्रिय होता है वह उसकी रक्षा में सर्प बनकर

रहता है अपने जन्म में। इस दृष्टि से हमारे श्री लक्ष्मण जी तो बने बनाए सर्प हैं—शेषावतार हैं, सर्पराज हैं। और शायद इसीलिए नागेन्द्र बन गये हैं कि वे अपने रामधन की निरन्तर रक्षा कर सकें, ऐसा करना उनके अनुरूप ही है। वे तो सदा-सदा से अपने धन को गोद में रखते हैं। लक्ष्मी जी तो केवल चरण दबाती हैं, पर अपनी गोद में समेट कर रखने वाले तो सर्प शिरोमणि लक्ष्मण हैं।

जो राम का रक्षक है, पहरेदार है उसका सर्वविदित गुण एक और है। पहरेदारों का नारा होता है—जागते रहो। यह चेतावनी कौन दे सकता है ? वही न जो स्वयं जागता हो ? हम देखते हैं, श्रीरामानुज इस कसौटी पर कसे-खरे पहरेदार हैं सदा जागते हैं कभी नहीं सोते। जो इतना सजग है उसके धन को क्षति कौन पहुंचा सकता है।

एक पहरेदार है अयोध्या में वह है रामराज्य का पहरेदार, श्री भरत, दूसरे पहरेदार हैं लक्ष्मण, वह हैं राम के पहरेदार। राम रक्षा के बिना रामराज्य कहाँ ? रक्षक और रक्षणीय में अटूट सम्बन्ध होता है इस प्रकार राम हैं रक्षणीय और लक्ष्मण हैं रक्षक।

ये जीवों के आचार्य भी हैं। जीवों की दशा क्या है वे सदैव धन के पीछे दौड़ा करते हैं, धन को छाती से लगा के रखते हैं, पर वह धन एक दिन उन्हें धोखा दे जाता है, साथ छोड़ देता है। एक उर्दू के शायर ने कहा है—

सेठ को फिक्र थी, यक-यक के दस-दस कीजिये।
मौत आ पहुंची कि हजरत जान वापस कीजिये।।

किन्तु जीवों के आदि आचार्य श्री लक्ष्मण बताते हैं कि अरे प्राणियों, किसी धन के पीछे दौड़ना हो तो, वह धन यह है जिसकी रक्षा मैं करता हूं, पर दुनियां के जड़ धन से यदि चिपटे रहोगे तो यह दिव्य खजाना नहीं मिलेगा, ये तो निर्धन के धन गिरधारी हैं।

एक दृष्टि और है। सब जानते हैं कि हमारे देवी - देवों का एक विशिष्ट रूप है। उस रूप में किसी न किसी आयुध का दर्शन अवश्य होता है, दुर्गा की तलवार, इन्द्र का वज्र, शिव का त्रिशूल, श्रीराम का धनुष उनके साथ उनके वेष में अभिन्न बनकर रहता है। जैसे मुरली के बिना मदन मुरारी की क्या छवि ? वैसे ही धनुषवाण के बिना रघुवंश भूषण श्री रामभद्र की क्या शोभा ? इसलिए तो ब्रज में जाकर श्री गोस्वामी जी ने एक मन्दिर में कहा—

कहा कहौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक नमत है धनुषवान लो हाथ।।

इससे सिद्ध होता है कि श्रीराम की बांकी झांकी में धनुष का अभिन्न सम्बन्ध हैं। भक्तों को अभय देने के लिए, दुष्टों को दण्ड देने के लिये कोदण्डधारी हैं, अवध बिहारी। चाहें वे अवध की वीथियों में घूमें या सरयू के तट पर, चाहे वन बिहार को निकलें या वनवास को, धनुष सदा साथ रहता

है। कोदण्ड - दीक्षा - गुरु, रघुवीर आर्तत्राण - परायण हैं, इस व्रत का पालन कोदण्ड के द्वारा ही सम्भव था। श्रीराम का अनन्य साथी वह धनुष प्रायः लक्ष्मण के हाथों में रहता है। विश्व की रक्षा का भार है—लाड़ले लक्ष्मण पर। यह है दुहरा काम उनका। इसलिए जब श्रीराम को धनुष की आवश्यकता होती है तो वे लक्ष्मण की ओर मुड़कर कहते हैं—

लछिमन बान सरासन आनू ।
सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू ।।

श्रीराम का धनुष सौमित्र के समीप रहता है, इसका आशय क्या है ? इसका आशय है लक्ष्मण ही रघुकुल मणि श्रीराम के असली धनुषत्राण हैं।

मार्ग में प्रभु आगे चलते हैं पर उनका धनुष उनके पीछे रहता है क्योंकि लक्ष्मण उनके पीछे रहते हैं और चाप वाण रहता है लक्ष्मण के पास। पर युद्ध में श्रीराम से आगे रहता है धनुष, वैसे ही रणस्थली में वीरशिरोमणि लक्ष्मण आगे रहते हैं।

धनुष का गौरव क्या है ? श्रीराम की लीला में उसका स्थान क्या हैं ? इस सम्बन्ध में दाक्षिणात्य कवि पुंगव श्रीरामभद्र दीक्षित कहते हैं—

यन्मूलो रघुनन्दनस्य जगतां त्रातेति कीर्त्यंकुरो,
देवी चार्चति जानकी सविनयं यद्‌गंध पुष्पाक्षतैः,

यत्कोट्या कृतलांछनश्च जलधौ सेतुर्जगत्पावनो,
भद्रायास्तु जगत्त्रयस्तुतिपदं तद् राघवीयं धनुः ।

"रघुनन्दन तीनों लोकों के रक्षक हैं, इस कीर्ति के अंकुर की मूल है धनुष । भगवती जानकी, विनय पूर्वक जिसे गन्ध पुष्प और अक्षतों से पूजती हैं । जिस धनुष की एक कोटि का स्पर्श पाकर सागर पर बंधा सेतु जगत पावन बन गया, तीनों लोकों की स्तुति का पात्र यह धनुष आपका मंगल करे ।"

धनुष विश्व रक्षण की मूल है, यह बात सौमित्रि पर भी लागू है । जगत की रक्षा का वाधक कौन है ? पर - पीड़क, पुरुषाद, पाप परायण राक्षस । उन्हीं के लिए तो प्रभु ने प्रतिज्ञा की थी—

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कार्य को लक्ष्मण सहजभाव से करने में पूर्ण समर्थ हैं । यह बात उस समय स्पष्ट हुई जब विभीषण प्रभु की शरण में आये । सुग्रीव ने सुझाव दिया—

राखिय बांधि मोहि अस भावा ।

श्री हरि बोले—हां बाँधेंगे, पर दुनियां की रस्सी से नहीं प्रेम की डोरी से बांधेंगे ।

जननी जनक बन्धु सुत दारा ।
तन धन भवन सुहृद परिवारा ।।

सबकै ममता ताग बटोरी ।
मम पद मनहि बांध बरि डोरी ।।

इस डोरी में बंधा विभीषण कभी न छूटेगा । विभीषण की तो बात क्या वह तो जीव है, मैं स्वयं ब्रह्म होकर बंध जाता हूं ऐसी है वह प्रेम की प्रबल डोरी ।

'झीन-झीनी प्रेम की डोरी मोपै तोड़ी न छोड़ी जाय ।
सांकर होइ तो तोड़ दिखाऊँ ।
खम्भ होइ तो चीर बताऊँ ।।
वज्र होइ तो पीस बहाऊँ ।
धनुष होइ तो तोरू छिनक में प्रीति न तोरी जाय ।

सुग्रीव ने कहा—प्रेम की डोरी तो ठीक है पर राक्षस तो सार जानते हैं प्यार नहीं, प्रेम तो धरती का सार है, श्रृंगार है और यह राक्षस तो भार है पृथ्वी का । यह दशानन का भाई है, जिसका एक मुख हो उसकी एक बात हो सकती है, और जिसके दस मुख हैं उसकी दस बातें, पता नहीं कब क्या कहने लगे । उसका भाई ठहरा यह, उसकी बात का क्या ठिकाना । इसका नाम भी भयानक है । विभीषण—विशेषेण भीषयति इति विभीषण । जो दूसरे लोगों को विशेष रूप से भयभीत कर दे, उसे कहते हैं विभीषण । सचमुच हमारी सेना के लिये बिलकुल विभीषण सिद्ध होगा । मायावी, छली, काम-रूपधारी लोग पहले भेद लेते हैं, मीठी - मीठी बातों से, बाद में प्रहार करते हैं—

आरा ठनक न बोलई नहीं ज्योंक के दन्त ।
जो नर बोलें माधुरी दगा करेंगे अन्त ।।

सुग्रीव बोले—महाराज ! आपका क्या बिगड़ेगा ? आप तो अवध से चले तब चार थे, बाद में सुमन्त मन्त्री लौट गये तो रह गये तीन। सीता जी का हो गया हरण तो गिने गिनाने रह गये कुल दो। सेना मरेगी तो हमारी जो करोड़ों और अरबों की संख्या में है। वानरराज के विनोद भरे वाक्य से प्रभु के मुखचन्द्र से मुसकान की चांदनी छिटक पड़ी। वे बोले—भइया सुग्रीव ! वह तो दशानन का भाई है पर मैं तो सहसानन का भाई हूं—लक्ष्मण तो सहस्र मुख शेष हैं, भला मैं क्यों डरने लगा ? सच पूछो तो तुम्हारी सेना तो केवल खिल-वाड़, मेरी प्रचण्ड शक्ति तो लक्ष्मण हैं। यह है मेरा असली भेद, सच्चा रहस्य ! वह अकेला क्या कर सकता है ? तो सुन लो।

जग महँ सखा निसाचर जेते ।
लछिमन हनइ निमिष में तेते ।।

केवल लंका में ही नहीं, विश्व में जहां कहीं भी निशाचर हैं, उन सबको लक्ष्मण, चुटकी बजाते नष्ट कर सकते हैं।

इस प्रसंग पर हमारे कवीन्द्र चूड़ामणि श्रीगोस्वामी जी की एक विलक्षण सम्भाल देखिये। बाल्मीकीय रामायण में भी श्रीराम जी ने एक ऐसी ही बात कही है पर एक अन्तर है

बहुत बड़ा अन्तर है। वहाँ रघु धुरीण-धनुर्धर राम यह श्रेय स्वयं लेते हैं, उनकी वीरवाणी है—

पिशाचान् दानवान् यक्षान्
पृथिव्यां चैव राक्षसान्।
अंगुल्यग्रेण तान् हन्याम्
इच्छन् हरिगणेश्वर ।

वा० रा० ६।१८।२३

हे वानरराज सुग्रीव! यदि मैं चाहूं तो पिशाच, दानव, यक्ष और पृथ्वी के सम्पूर्ण राक्षसों को अपनी अंगुली के अग्र-भाग से नष्ट कर सकता हूं। यह है श्रीराम की गौवर-गिरा। बात भी सच है, अरे जिसकी भृकुटी की भंगिमा, ब्रह्मांडों को भंग कर सकती है, मुट्ठी भर राक्षस किस गिनती में हैं? सत्य सन्ध राम की वीर घोषणा सर्वथा सत्य है, पर इस कथन में आत्म प्रशंसा की गन्ध है, दर्प का पुट है, अपने मुख अपनी करनी का बखान है। हमारे गोस्वामी जी ने इस दोष से बचा लिया अपने प्रभु को। उनके शील-गुण को शत गुणित कर दिया। जब प्रभु ने कहा—'यह काम तो मेरा छोटा भाई लक्ष्मण कर सकता है तो श्रीराम की शक्ति अपार हो गई। अरे, जिनका छोटा भाई इतना शूर है तो बड़े भाई का तो कहना ही क्या है, यह छाप छोड़दी, लोक मानस के मर्मज्ञ मानसकार ने। राक्षस विनाश का काम लक्ष्मण पर छोड़ा, यह ठीक ही थी यह कार्य प्रभु का धनुष करता है या लक्ष्मण! आप थोड़ी सी तुलना के द्वारा देख लें।

रघुवीर का धनुष टंकारता है तो बसुधा थर्रा जाती है—

कहे दास तुलसी जबहिं प्रभु सरचाप कर फेरन लगे।
ब्रह्माण्ड दिग्गज कमठ अहिमहि सिन्धु भूधर डग मगे।।

अब देखिये धनुषाकार लक्ष्मण की भौंहों को। वे जब कमान के समान भृकुटि तान कर बोलते हैं तो—

लखन सकोप बचन जे बोले।
डग मगान महि दिग्गज डोले।।

जैसे धनुष साथ, वैसे लक्ष्मण साथ, अभिन्न साथी हैं प्रभु के—

राम लखन दोउ बन्धुवर।

काव्य के सन्दर्भ में एक उपमा पर और विचार कर लिया जाय। वह उपमा बड़ी मार्मिक है बड़ी प्रसिद्ध और बहुत ही अर्थ पूर्ण है। उस उपमा में श्रीराम और लक्ष्मण की अभिन्नता अद्‌भुत रूप से बताई गयी है। गोस्वामी जी कहते हैं—

बन्दौं लछिमन पद जल जाता,
सीतल सुभग भगत सुख दाता।
रघुपति कीरति विमल पताका,
दण्ड समान भयेउ जस जाका।

रघुनायक गुण गायक गोस्वामीचरण समझते हैं—

श्रीरघुपति की कीर्ति एक निर्मल पताका है, उस पताका में जिनका यश दण्ड समान है, उन लक्ष्मण के चरणकमलों का

हम बन्दन करते हैं, वे चरण शीतल हैं, सुन्दर है और भक्त सुखदाता है।" इस बन्दना में रघुपति कीर्ति को पताका और उस पताका में लक्ष्मण के चरित्र को दण्ड कहा। पताका की शोभा है ऊपर उठने में गगन में झूमकर लहराने में। ऊपर उठकर ही तो पताका, विजय पताका कहलाती है। लंका के युद्ध में रणधीर राम ने रावण की पताका नीचे गिरा दी— पताका का दण्ड खण्डित हो गया—

रावण का मान-अभिमान गिर गया, उसने मन में पराजय मान ली—

रथ विभंजि हति केतु पताका,
गरजा अति अन्तर बल थाका।

पताका ऊपर कब उठती है? सब जानते हैं कि जब दण्ड ऊपर उठता है तब पताका ऊपर उठती है, दण्ड के सहारे रहती है—

पताका, पर दण्ड? दण्ड होता है पताका के लिये कैसा अनोखा है यह परस्पर का सम्बन्ध।

दण्ड कठोर होता है, पताका होती है कोमल। वीरवर रामानुज के चरित्र में जहाँ कठोरता है उसका उपयोग वही है। हम अपने इस शरीर की रचना को देखें। यदि इसमें कठोर अंश न हों तो हम गति हीन होकर एक जगह पड़े रह जायेंगे। निकम्मे बन जायेंगे।

२६ जनवरी को हम अपना गणराज्य दिवस मनाते हैं उस दिन झण्डा ऊपर उठता है तो सारा राष्ट्र उसके सामने नत मस्तक हो जाता है, और वही झण्डा जब लिपटा रक्खा रहता है तो कोई नमस्कार नहीं करता उसे।

हम चाहते हैं— **झण्डा ऊँचा रहे हमारा।**

पर सच बात तो यह है कि संसार में झण्डा ऊंचा उसका रहता है जिसका डण्डा ऊंचा रहता है। इस दृष्टि से भी देखिये इनके सम्बन्ध को। झण्डा की जब पूजा होती है तो अक्षत चन्दन, पुरुष कहाँ चढ़ते हैं? क्या पताका पर चढ़ते हैं? नहीं, नहीं वे चढ़ते हैं गण्डे पर। संकेत यह है कि दुनियाँ पूजा करती है शक्ति की ताकत की। हम अच्छी तरह देख चुके हैं। बंगला देश में जब पाकिस्तान की सेना ने अत्याचार किया, इतिहास के पन्नों पर कालिमा पोती, और बंगाल की हरी-भरी भूमि पर खून की होली खेली, छोटे - छोटे दुधमुंहे बच्चों तक को मौत के मुंह में ढकेल दिया, देवी के देश में देवियों और कन्याओं की पवित्र काया को, पाकिस्तान के पिशाचों ने अपनी वासनाओं के खूनी नाखूनों से नोच डाला एक करोड़ (सौ लाख) लोग भागकर भारत आये। उस समय हमारे देश के कर्णधारों ने सारी दुनिया के दरवाजों पर न्याय और अहिंसा की दुहाई दी। पर किसी ने नहीं सुना, देश के चोटी के नेताओं ने एड़ी से चोटी तक का पसीना बहाया, चिल्ला-चिल्ला कर; पर कौन सुनता है, हाँ जब भारत के वीर जवानों ने देश के सच्चे पहरेदारों ने जब डन्डा लेकर दुश्मनों

को खदेड़ना शुरू किया तो सारी दुनिया की आँखें खुल गयी, कान खुल गये और दुश्मन की कलई खुल गयी, यह है डन्डे की पूजा—

वीर भोग्या वसुन्धरा।

तो मैंने बताया कि पूजा दण्ड - शक्ति की होती है। हाँ दण्ड प्रधान नहीं, वह साधन है, साध्य नहीं। इसलिये कहा है कि डण्डा झण्डे के लिये है, दण्ड शक्ति रक्षा के लिये है, श्री लक्ष्मण का पौरुष प्रभु के लिये है। झण्डे में दण्ड का नाम अलग से नहीं लिया जाता। झण्डा कहने से ही दोनों का बोध हो जाता है। दोनों मिलकर, एक होकर झण्डा है, वैसे ही रामलखन की जोड़ी है, बिलकुल अभिन्न।

इस सन्दर्भ में साहित्य गगन के जगमगाते नक्षत्र, काव्य शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य मम्मट की साक्षी देना भी हम आवश्यक समझते हैं। उनका रचा हुआ ग्रन्थ हैं 'काव्य प्रकाश'। उसके द्वितीय 'उल्लास' में एक स्थान पर यह विचार प्रस्तुत हुआ है कि जब एक शब्द अनेक अर्थ का बोधक हो, उस दशा में सही अर्थ का ज्ञान कैसे होगा। जैसे हरि शब्द है, उसके अर्थ है—विष्णु, इन्द्र, सूर्य, घोड़ा, बन्दर आदि। परन्तु जब हम उसका प्रयोग वाक्य में करेंगे तब उसका मुख्य अर्थ एक ही होगा। उसके सही अर्थ का पता कैसे लगेगा। इसके लिये आचार्य मम्मट ने एक कारिका लिखी। उसके अनुसार, संयोग, विप्रयोग, साहचर्य आदि १४ अर्थ - नियामक

बताये गये हैं। उनका उदाहरण देते हुए जब 'साहचर्य' का उदाहरण दिया तो कहा—

राम लक्ष्मणाविति दाशरथी।

राम के तीन अर्थ हैं—परशुराम, दाशरथि राम और बलराम। जब हम कहेंगे~ राम लक्ष्मण, तब यहाँ कौन से राम लिये जायेंगे इसका निर्णय करता है लक्ष्मण शब्द। लक्ष्मण के साथ रहने वाले राम दशरथ नन्दन ही हो सकते हैं अन्य नहीं। फिर प्रश्न हुआ कि लक्ष्मण शब्द के भी अर्थ कई हैं—दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण, सारस पक्षी का बच्चा लक्ष्मण, दशरथ तनय लक्ष्मण और अच्छे लक्षणों वाला कोई भी पुरुष लक्ष्मण। 'रामलक्ष्मण' कहने पर किस लक्ष्मण को लिया जायगा? तो उसका बोधक होगा राम शब्द। राम के साथ रहने वाला लक्ष्मण दशरथ नन्दन है अन्य नहीं। यह है साहचर्य। दोनों भाइयों का साहचर्य, दोनों का परिचय कराने वाला, दोनों को एक साथ बताने वाला है।

अब आइये, भरत जी की दृष्टि में लक्ष्मण का क्या स्वरूप है, यह देखा जाय। पुण्यशील, महाभागवत श्री भरत जी ने सुमित्रानन्दन के प्रति बड़ा भाव भरा उद्‌गार व्यक्त किया है। उनके अनमोल बोल भी सुनने योग्य हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी,
राम पदारविन्द अनुरागी।

लाड़ले लक्ष्मण पर विमुग्ध हैं भक्त-भूषण श्री भरत। उनका कथन है—लक्ष्मण तो मुझसे भी अधिक सौभाग्यशाली हैं। ये सोचते हैं—मैं श्री राघव के पास गया तो पूरे समाज को बटोर कर ले गया जिससे अनेक भ्रान्तियाँ फैलीं। प्रेम का मार्ग भीड़ भाड़ का मार्ग नहीं, प्रभु के पास मैं संग्रह के साथ गया पर लक्ष्मण ? लक्ष्मण तो सब कुछ छोड़कर गया—

जीवन लाहु लखन भल पावा।
सब तजि राम चरन मन लावा॥

इसका परिणाम देखा कि सर्व संग्रही लौटा दिया गया और सर्वस्व त्यागी साथ गया, इसलिये—

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी !

श्री भरत की दूसरी दृष्टि यह भी है—वे सोचते हैं कि मैं तो प्रभु की चरण पादुकाओं का ही सौभाग्य प्राप्त कर सका, उन्हीं की मूक प्रेरणा ने मुझे १४ वर्ष तक जीवित रक्खा, पर साक्षात् प्रभु के चरणों के समीप रहने का दुर्लभ लाभ, उनकी सेवा करने का गौरव तो दुलारे लक्ष्मण ने पाया है, और इसलिये वे कहते हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी।

श्री कैकेयी किशोर के कोमल हृदय में इस बात की भी ग्लानि हो रही थी कि माता सुमित्रा के दो पुत्र हैं, दोनों प्यारे आँखों के तारे हैं, छोटा मेरी सेवा में है, बड़ा प्रभु की सेवा में

है, इन दोनों कुमारों में मैं तो लक्ष्मण को ही अधिक धन्य मानूंगा अतः कहा—

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी ।

उन्हें ऐसा भी प्रतीत होता है कि जब मैं, लक्ष्मण के लघु-भ्राता शत्रुघ्न को देखता हूं तो लक्ष्मण का स्मरण हो आता है, लक्ष्मण की मूर्ति मेरी आँखों के सामने आ जाती है, लगता है जैसे एक लक्ष्मण गया है मेरे नाथ की सेवा में और दूसरा लक्ष्मण लगा है दास की सेवा में घर को भी सम्भाल रहा है लक्ष्मण और बन भी देखभाल कर रहा है लक्ष्मण और मैं तो न घर का रहा न बन का अतः मैं तो यही कहूंगा कि—

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी ।

एक मर्म की मधुर बात और भी है । श्री भरत हैं दैन्य की अनिद्य मूर्ति, करुणा के अक्षयकोष और राम - प्रेम के अवतार । उनकी भव्य भावना पर एक बात और भी बार-बार चक्कर काट रही थी, उनके गङ्गा-जल से निर्मल मन को क्षुब्ध बना रही थी वह कौन सी बात है ? श्री भरत जी सोचते हैं—

मेरे कारण मेरे प्रभु के कोमल चरण, कांटों भरे, कंकड़ों भरे मार्ग पर चलने को विवश हुए । उन्होंने स्वयं कहा हैं और वह भी गङ्गा यमुना - सरस्वती के संगम पर तीर्थराज प्रयाग की पावन भूमि पर और तपः पूत महर्षि भरद्वाज के आश्रम पर, तथा समस्त ऋषियों और मुनियों के सामने स्पष्ट कहा—

एहि थल जो कछु कहिय बनाई ।
एहि सम अधिक न अथ अधमाई ।।

उनके हृदय का सत्य क्या है ? वे कहते हैं—

मोहि न मातु करतब कर सोचू ।
नहि दुख जग जिय जानहि पोचू ।
नाहि न डर बिगरहि परलोकू,
पितहु मरे कर नाहि न सोकू ।

कैकेयी मां के करतब का सोच नहीं, दुनियाँ मुझे क्या कहेगी इसकी चिन्ता नहीं, परलोक बिगड़ जाय, इसका दुःख नहीं, अधिक क्या कहूं पिता की मृत्यु की भी वह पीड़ा नहीं ! फिर पीड़ा किस बात की है ? इस पर कहते हैं—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं ।
करि मुनि वेष फिरहिं वन-वनहीं ।।
यह दुख दाह दहे नित छाती ।
भूख न वासर नींद न राती ।।

श्री भरत सोचते हैं—श्री चरणों को पीड़ा पहुंचाकर केवल चरण पादुकाओं का पूजन करके उन्हें कैसे सुख पहुंचा सकूंगा । मैं तो अधन्य हूं, भाग्य हीन हूं, अहोभाग तो वह लक्ष्मण हैं जो उन चरणों को सुख पहुंचाते, शय्या बिछाते और पहरा देते हैं । इसीलिये वे कहते हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी ।

स्नेह - रत्न के जोहरी श्री जानकी - जीवन रघुनन्दन ने कहा था—

लखन तुम्हार सपथ पितु आना,
सुचि सुबन्धु नहि भरत समाना ।

यह आदर्श वाक्य भगवान का है, पर भगवान से बड़ा है भगवान का भक्त अतः उसका वाक्य भी असत्य नहीं हो सकता । उनका वाक्य है ? भक्ताग्रणी श्री भरत जी कहते हैं—

लालन जोग लखन लघु लोने,
भे न भाइ अस अहहि न होने ।

लोने लखन से भाई न हुए, न हैं और न भविष्य में होंगे । धन्य है भरत और धन्य है लक्ष्मण ।

इसीलिये इस अनोखी जोड़ी के विषय में जनकराज कहते हैं कि रामलखन की जोड़ी अकथनीय है—

इनकी प्रीति परस्पर पावनि,
कहि न जाय मन भाव सुहावनि ।

अथवा— **ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा,**
उभय वेषधरि की सोइ आवा ।

इसीलिये श्री भरत जी का वाक्य बड़ा सारपूर्ण है कि—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी ।

पर एक बात तो सबसे विलक्षण है, सर्वोपरि और आध्यात्मिक दृष्टि से नितान्त उदात्त तथा अमूल्य है । वह कोनसी बात है ? सुनिये और विचार कीजिये ।

श्रीराम केवल अयोध्या के महलों में ही नहीं, मन - मन्दिर में भी रहते हैं, वे वनों में ही नहीं, जन-मन-कानन में भी विचरते है। केवल महलों में प्रभु के साथ रहना या वनों में उनके साथ जाना तो स्थूल बात है, हाँ, भक्तों के हृदय भवन में विराजमान श्री हरि के साथ रहना अन्तरंग तथ्य है। लक्ष्मण की विलक्षण उपलब्धि यह है कि वे श्रीराम के साथ, भक्तों के मन-मन्दिर में भी सादर आहूत किये जाते हैं, बाल्मीकि जी कहते हैं—

लोचन चातक जिन करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाखे।।
निदरहिं सरित सिन्धु सर वारी।
रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।।
तिन के हृदय सदन सुख दायक।
बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक।।

महर्षि बाल्मीकि जी कहते हैं कि हे प्रभो! आप मेरे हृदय में बन्धु के साथ अर्थात् लक्ष्मण के साथ निवास कीजिये।

श्री सुतीक्षण जी महाराज की आकांक्षा भी यही है—

अनुज जानकी सहित प्रभु चापबान धर राम।
मम हिय गगन इन्दु इव बसहु सदा निहकाम।।

हे प्रभो! मेरे हृदय - गगन में आप पूर्णचन्द्र तुल्य जगमगाओ। श्री किशोरी, पूर्णचन्द्र की बगल में रोहिणी के समान

सुशोभित हों और ये लक्ष्मण वहां रोहणी तनय बुध के समान शोभा पावें। इससे स्पष्ट है कि श्री लक्ष्मण जी वहाँ भी साथ रहते हैं जहाँ निर्मल मानस भक्तों के मन में प्रभु निवास करते हैं।

इस प्रकार उनके रूप में भक्त और भगवान दोनों का समावेश है। यही कारण है कि गोस्वामी जी ने वन्दना-क्रम में श्री भरत की बन्दना दो चौपाइयों में की—

बन्दौं प्रथम भरत के चरना,
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।
रामचरन पंकज मन जासू।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।

और दो चौपाइयों में ही भगवान् राम की वन्दना की—

पुनि मन बचन करम रघुनायक,
चरन कमल बन्दौं सब लायक।
राजीव नयन धरे धनु सायक,
भगत बिपति भंजन सुख दायक।

इस प्रकार भक्त की वन्दना में दो चौपाइयाँ और भगवान की बन्दना में दो चौपाइयां, पर जब लक्ष्मण वन्दना की गयी तब चार चौपाइयाँ लिखी गयीं। क्यों ? क्योंकि उनमें दोनों तत्वों का संगम है—भक्त-भगवान् का मधुर मिलन है।

गोस्वामी जी कहते हैं—

बन्दउँ लछिमन पद जल जाता,
सीतल सुगम भगत सुखदाता ।
रघुपति कीरति विमल पताका,
दण्ड समान भयउ जस जाका ।
सेस सहस्र सीस जग कारन,
जो अबतरेउ भूमि भय टारन ।
सदा सो सानुकूल रह मोपर,
कृपा सिन्धु सौमित्रि गुनाकर ।

प्रथम दो चौपाइयों में उनके भक्त रूप का दर्शन है । अन्तिम दो चौपाइयों में उनका भगवत् रूप है ।

अन्त में हम चक्रवर्ती के कनक-कमनीय कुमार, सुमित्रा के वात्सल्य - जलधि से निकले ललित ललाम, उर्मिला - वल्लभ, श्री रघुनन्दन के अनूठे अनन्य अनुरागी लक्ष्मण के चरणों में नत मस्तक होकर उनकी एक झांकी गोस्वामी जी के शब्दों में प्रस्तुत कर अपनी वाणी को विराम देते हैं—

राम वाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर ।
ध्यान सकल कल्यान मय सुरतरु तुलसी तोर ॥

अहल्योद्धार

आदिकवि ने जो अहिल्या का रूप प्रस्तुत किया है वह बड़ा भव्य है। विश्वामित्र कहते हैं—रामभद्र ! देवरूपिणी महाभागा अहल्या का उद्धार करो। श्री राम ने आश्रम में प्रवेश कर देखा—तपोदीप्त से दुर्निरीक्ष्य, विधाता के द्वारा प्रयत्न पूर्वक निर्मित दिव्य, मानवदुर्लभ- लावण्य शालिनी मायामयी विस्मयकरी अहल्या, वृक्षलता-कुसुमों से आवृत होने के कारण मेघखण्डों में छिपी पूर्ण चन्द्र की प्रभा-तुल्य तथा सरोवर में प्रतिबिम्बित दुराधर्ष प्रदीप्त सूर्य-प्रभा-सदृश दिख रही है।

वाल्मीकि की कलामयी तूलिका ने जो उसकी कमनीयता और पवित्रता का चित्र उभारा है, वह भारतीय वाङ्मय में अन्यत्र दुर्लभ है। यह महर्षि की कोरी सहानुभूति नहीं है और न कवि - कल्पना का केवल विलास है, यहाँ वस्तुगत वैशिष्ट्य है। गौतम-पत्नी के जीवन में इस घटना के पूर्व एक अलौकिक संयम का आलोक देखा जाता है। उसका चरित्र निष्कलुष था, वह ऋषि के अनुरूप ही तपोधना है। वह देव - दानव-मानव किसी के प्रति आकृष्ट नहीं देखी जाती। महर्षि की महनीया शोभा बनकर रहती है। यौवन का उद्दाम प्रवाह संयम की बेला में हिलोर लेता है। जीवन में उससे एक बार अपराध हुआ। अपराध का कारण था देवराज महेन्द्र। वैदिक

ऋचाओं के देखने से पता लगता है, इस प्रकार का चापल्य इन्द्र ने कभी व्यक्त नहीं किया था, उसने भी ऐसा चरित्र - शैथिल्य का परिचय एक बार ही दिया था। जीवन के इस एक स्खलन को शाप, अनुताप तथा प्रखर तप से शुद्ध नहीं माना जाता तो यह सबका सब निरर्थक हो जायगा। महर्षि वाल्मीकि इन सबको महत्त्व देते हैं। अहल्या के अपराध पर उसे 'दुर्वृत्ता, दुर्मेधा' कहते हैं, पर शाप से दण्डित होने पर तपोनिरत होने पर उसे पवित्र कहते हैं। श्री राम के चरण स्पर्श से अहल्या शुद्ध हुई, इस बात को आदिकवि नहीं मानते। श्री राम आश्रम पर पधारे इसका श्रेय वे गौतम के देव-दानव-दुर्धर्ष, तपोबल समन्वित, अग्नि की लपट-जैसे प्रज्वलित व्यक्तित्व को देते हैं। वह अपने पूर्वरूप में अवस्थित होकर अपने पति को प्राप्त करती है, यह भी ऋषि की अमोघ वाणी का ही सुपरिणाम है—

यदा चैतद वन घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्ष स्तदा पूता भविष्यसि ।।

वा० रा० ४९ सर्ग

दशरथात्मज दुर्धर्ष राम जब इस घोर वन में आयेंगे तब तुम पुनः पूत हो जाओगी।' लगता है महर्षि ने भगवान् की अपेक्षा भक्त को अधिक महत्त्व दिया है। ऋषियों के तपः पूत नियम से निखरे हुए दुर्निवार ब्रह्मवर्चस्व की प्रतिष्ठा रक्खी है। हाँ, ऋषि के वाक्य में एक संकेत है, जो ईश्वर के गौरव का मान करता है। वह है राम का 'दुर्धर्ष' विशेषण।

संसार के समस्त प्राणी विकारों से घर्षित हैं, दुर्धर्ष हैं तो अकेले राम। अहल्या की शुद्धि उन्हीं की सान्निध्यमात्र से हो गयी। यदि चरण-स्पर्श से पवित्र होती है तो कौन-सी बड़ी बात है, उनके श्रीअङ्ग की नील-मणि-किरणों का स्पर्श पाकर अथवा श्रीविग्रह के स्पर्श में आये समीकरण की एक हिलोर से अहल्या दिव्य रूप में परिणत हो गयी, ऐसा कहा जा सकता है। महा-पुरुषों की यही शैली है। 'अभ्दुत-दर्पण' नाटक में एक बड़ा सुन्दर श्लोक है—

अपि स्वैराचारैः कलुष-मितरेषां शमयत ।
परश्लाघायत्ता भवति महतः स्वेषु शुचिता ।।
अहल्या वैकल्प क्षपण-पदरेणोरपि विभोः ।
प्रमाणं वैदेही चरित-परिशुद्धौ हुतवहः ।।

"महान् पुरुष अपने निष्कलुष आचरण से दूसरों का कल्मष दूर करते हैं, पर उनकी स्वयं की पवित्रता दूसरों के अधीन होती है, अहल्या के वैकल्य को अपनी चरणरेणु से क्षालित करने वाले प्रभु ने वैदेही की परिशुद्धि में अग्नि को प्रमाण माना था।"

यही बात उचित है। श्री वैदेही तो उनका अपना ही अभिन्न अङ्ग हैं, अपनी शुद्धि में अपने ही चरण की पवित्रता काम नहीं देती। व्यक्ति को पवित्र दूसरे लोग कहें, यह ठीक है, व्यक्ति अपने को स्वयं पवित्र कहेगा तो उसका यह कथन ही उसकी अपवित्रता की घोषणा कर देगा। नाटककार का कथन

इसी अंश में सार्थक है, वह कोई तुलना नहीं कर रहा है। वैदेही तो गंगाजल से निर्मल, अग्नि से भी पवित्र हैं, वहाँ दोष कहाँ ? अहल्या तो सचमुच सदोष थी अतः यहाँ कोई सादृश्य नहीं है। तथ्य इतना ही है गौतम प्रभु के भक्त हैं, भक्तों में अपार सामर्थ्य है फिर भी वे प्रभु का गौरव बढ़ाते हैं। तथा प्रभु गौरवान्वित करते हैं ऋषि को। श्रीराम चरण-स्पर्श करते हैं अहल्या का—

राघवौ त्वतिथी तस्याः पादौ जगृहतुस्तदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रति जग्राह सा च तौ॥

वा० रा० ५०-१७

श्रीराम - लक्ष्मण ऋषिपत्नी के चरण छूते हैं। अहल्या गौतम के शाप का स्मरण कर पूजनीय प्रभु का वन्दन करती है, अतिथि-सत्कार करती है।

योगबल से वृत्तान्त जानकर गौतम आ पहुंचते हैं, अहल्या के साथ सुखी होते हैं। दोनों पुनः तपोनिरत हो जाते हैं।

करुणानिधान श्रीहरि की अपरिमित अनुकम्पा अनन्त काल से जीव पर बरस रही है। देव-दुर्लभ मानव शरीर की प्राप्ति उनकी कृपा का ही मधुर फल है—

कबहुंक करि करना नर देही देत ईस बिनु हेत सनेही।

साधनों का धाम, मोक्ष का द्वार है शरीर। प्रभु की करुणा-किरण का यह प्रातःकालीन सुनहला प्रकाश है। पर

शरीर की उपलब्धि ही पर्याप्त नहीं, उसे सामर्थ्य सम्पन्न बनाना भी आवश्यक था, अतः परमात्मा की कृपा का दूसरा रूप यह है कि उसे अभ्दुत क्षमताओं का अक्षय भण्डार बना दिया। केनोपनिषद् का महान् ऋषि कहता है कि ब्रह्म ने मनको मननकी, श्रोत्रको श्रवण की, नेत्र को दर्शन की शक्ति देकर बुद्धि को निश्चय शक्ति से अनुप्राणित किया और प्राणों को सञ्चरण का सम्बल दिया। कितना वात्सल्य-जलधि है वह। यह सब न देता मानव पाषाण - प्रतिमा होता, गति - हीन चेष्टाहीन पड़ा, पड़ा निरुद्देश्य पृथ्वी का भार बना रहता, किन्तु करुणानिधान ने इस प्राणी को अहल्या की दशा से ऊपर उठाया, उसे ऊर्ध्वगति की सामर्थ्य दी।'

अहल्या प्रसङ्ग में यह रहस्य बहुत कुछ उभरा है। श्रीहरि की तीसरी अनुकम्पा यह हुई कि हमें स्वर्गादपि गरीयसी जन्म - भूमि के रूप में भरत खण्ड की भव्य भूमि मिली। यह प्रभु की कृपा का ही तो मधुर फल है कि अहल्या की स्थिति प्रभु के सञ्चरण मार्ग में है, युगों से उनके चरणों की आहट पाने के लिए विकल है, वह एक क्षण के लिए भी उन चरणों को नहीं भूलती है—

चरन कमल रज चाहती।

पर प्रभु के चरण कमलों की रज बिना सन्तों की अनुकम्पा के कैसे मिलती ? अब सन्त कहते हैं—

कृपा करहु रघुबीर

कृपा करहु रघुबीर। उसे प्रभु के चरणों का स्पर्श मिला, चरणों का नहीं, चरण रज का। इस कथन में एक मधुर मर्म मुखरित हुआ है। वह रज चाहती है। क्यों? क्या इसमें मात्र नम्रता का ही भाव है? नहीं। इस कथन में अहल्या का मर्माहत हृदय बोल रहा। वह सोच समझ कर रज चाहती है। वह जानती है, रज, संसार की दृष्टि में जड़ है, और अहल्या भी आज शिला-खण्ड के रूप में जड़ बनी पड़ी है। हम देखते हैं, धूल नीच है—'नीच को धूरि के समान। अहल्या से जो कृत्य बन गया है, वह गर्हित है, नीच है अतः वह भी उसी कोटि में है। धूल चिरकाल से पद दलित है—

सब कर पद प्रहार नित सहही।

अहल्या के शिला-शरीर पर भी न जाने कब से और न जाने कितने अन्धड़ों ने परपुरुषों की पाद - धूल उछाली है। अहल्या—सोचती है—युगों से तिरस्कृत, पद दलित धूल, श्री हरि के चरणों का स्पर्श पाकर पावन ही नहीं पतित पावन बन गयी। क्यों न मैं उसी से नाता जोड़ूं। उसका और मेरा जोड़ा ठीक बैठेगा।'

राजा बलि के यहाँ भगवान् गये छोटे बनकर। अहल्या के यहाँ भी प्रभु छोटी अवस्था में बालक रूप में ही आये हैं; हाँ, एक अन्तर है, महत्त्वपूर्ण अन्तर। वहाँ गये थे इन्द्र को

खोये राज्य को दिलाने के लिए, यहाँ आये उसकी खोई आँखें खोलने के लिए। वहाँ गये थे तब उनके चरणों में चरण-पदुकाएं थीं, खड़ाऊँ थी अतः श्रीचरण धरती की रज से ऊपर उठे थे बेचारी रज को उन तक पहुंचने के लिए स्वयं उठाना पड़ा था कुछ पुरुषार्थ करना पड़ा था, किन्तु यहाँ तो श्रीचरण निरावरण हैं ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि वहाँ प्रभु स्वयं गये थे और यहाँ सन्त के साथ आये हैं अतः यहाँ धूल को चरण-कमलों ने अपना पराग बना लिया। पराग तो कमल से भी अधिक स्पृहणीय है। गोस्वामिचरणों ने कहा—'चरन कमल रज चाहती।' जब चरण कमल हैं तो उनमें स्थित रज पराग ही तो हो सकती है ? अहल्या सोचती है—'मेरी जड़ता, यदि चिन्मय चरणों के स्पर्श से दूर होती हैं तो इससे चरणों का चमत्कार ही क्या रहा। मेरी जड़ता को यदि जड़ रज दूर करती है तो विश्व चकित होगा और उन चरणों में सिर झुकायेगा जिनका स्पर्श पाकर जडता की प्रतीक धूल, जागरूकता की प्रतीक बन गयी, आँखों को मूंद देने वाली रज, आँखें खोल देने वाली बन गयी। अहल्या ललक कर कहती है—आओ रज, मेरे सिर का श्रृंगार बनो। हम तुम दोनों एक जड़ जाति की हैं। सजातीय होने के कारण बड़ा प्रेम होगा। हम दोनों मिलकर पुरुषोत्तम के पादपद्म की महिमा का बखान युग-युगों तक करते रहेंगे और इसलिए—

चरन कमल रज चाहती।

कुछ लोग इस प्रसंग पर भावुकता बस कह बैठते हैं कि प्रभाव चरणों का नहीं, धूल का है। वे उदाहरण देते हैं केवट

की उक्ति का—'रावरे दोष न पायन कौ पगधूरि को भूरि प्रभाव महा है।' वस्तुतः यह उसकी भावात्मक व्यङ्ग्योक्ति का दुरुपयोग है, अतः अविवेक का परिचय है। वह कहता है—'राबरे दोष न पायन कौ' इसका आशय चरण - महिमा की तुच्छता नहीं। यदि ऐसा ही अर्थ होने लगेगा तब तो दुनियाँ की आँखों में धूल झोंकने वाले पुण्यात्मा कहलायेंगे। धूल तो तुच्छ है, पद दलित है, नीच हैं, श्री चरणों से चर्चित होकर कृतार्थ हो गयी। इसलिए केवट धूल की महिमा या प्रभाव नहीं कहता, वह कहता है—पगधूरि कौ भूरि प्रभाव। 'चरन कमल रज चाहती,' का भी यह अर्थ नहीं है कि अहल्या को चरणों से परहेज है या चरण प्रभाव-शून्य हैं। वह स्वयं स्वीकार करती है—

जेहि पद सुर सरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज, मम सिर धरेउ कृपालु हरी।।

यहाँ और सर्वत्र प्रभु के पाद-पद्मों की असाधारण अद्वितीय महिमा का विश्वविजयी जय-नाद है।

पञ्चभूतों में जगत की रचना है, इन्हें साधन बनाया जा सकता हैं प्रभु की प्राप्ति का, किन्तु जब इनकी प्राप्ति परमोपलब्धि बनकर रह जाती है तब ये पंचभूत भयानक भूत बन जाते हैं, बन्धन बन जाते हैं। करुणावतार रघुवंश भूषण के चरण आकर जब इन पञ्चभूतों को छू देते हैं तब ये प्रभु की कृपा के कोश बन जाते हैं, पांचों तत्त्व प्रभु के पादपद्मों का

स्पर्श पाकर क्या बन जाते हैं, यह देखकर श्रीहरि की अहैतुकी उदात्त करुणा का पता लगता है। जब जल तत्त्व को श्रीहरि के चरणों का स्पर्श मिला तो हो गया—त्रैलोक्य पावन सुरसरी। जगत्पावन गंगा प्रवाह बन गया। आकाश तत्त्व को प्रभु का पादस्पर्श मिला तो वह बन गया 'विष्णुपद'। 'वियद् विष्णुपदम्' अमरकोष। पृथ्वी तत्त्व को स्पर्श मिला तो जड़ से चेतन ही नहीं जड़ों को चेतन बनाने लगा, नीरस से सरस ही नहीं बना, नीरसों को सरस बनाने लगा। वायु तत्त्व ने अपने आपको धन्य करने के लिए पवनपुत्र के रूप में चरणाश्रयी बनाया तो प्रभु के अखण्ड वात्सल्य का अभूतपूर्व भाजन बन गया। अग्नि तत्त्व में श्री चरण के सम्बन्ध से जो अतुल चमत्कार विश्वगोचर हुआ तो दुनिया चकित हो गयी, चरणों का चिन्तन लेकर अग्नि में प्रवेश जिन्होंने किया—उनके लिए श्रीखण्ड सम शीतल बन गया। यह है श्रीचरणों की महिमा का विविध रूपों में विलक्षण गान !

प्रभु-चरण-चिन्तन

महाराज भोज ने स्वरचित चम्पू रामायण में प्रभु की चरणरेणु का चमत्कार दूसरे रूप में व्यक्त किया है। वे कहते हैं—संसार में कार्य-करण भाव की एक शास्त्रीय श्रृंखला है। सुख कार्य है और उसका कारण है पुण्य, दुःख कार्य है और उसका कारण है पाप। प्रत्येक कार्य का—विशेषतः विपरीत कार्य का कारण सर्वथा भिन्न होता है। यही कार्य कारण परम्परा शास्त्र सम्मत तथा लोक-मान्य है। पर अहल्या के प्रसंग में यह परम्परा उलट गयी। गौतम

की धर्मपत्नी को प्राप्त होने वाले महान् क्लेश में जो कारण था वही कारण है उसके अकथनीय सुखोपलब्धि में। यह बात बिलकुल लोकोत्तर है—

दुःखे सुखे च रज एव बभूव हेतु—
स्तादृग्विधौ महति गौतमधर्मपत्न्याः
यस्माद् गुणेन रजसा विकृतिं गता सा
रामस्य पादरजसा प्रकृतिं प्रपेदे ।

अहल्या के दुःख और सुख का कारण केवल 'रज' है। रज शब्द में श्लेष है। रज का अर्थ है रजोगुण तथा धूल। लौकिक सुख के आकर्षण का बीज रजोगुण है। अहल्या के सामने तो उस सुख का सर्वोत्कृष्ट रूप था स्वर्गीय भोग। कामसुख रजोगुण-समुद्भूत है, ऐसा गीताकार कहते हैं। अतः अहल्या रज के कारण ही पति-परित्यक्ता एवं प्रस्तर-प्रतिमा बनी और आज प्रभु के पादपंकज की रज से पुनः अलौकिक सुख की भाजन हुई।

हनुमन्नाटककार इस प्रसंग पर क्रमोन्नति का निदर्शन अनूठे ढंग से करते हैं। उनके कथन को एक सन्दर्भ के साथ चिन्तन की भाजन हुई।

जिस समय अहल्या को लौकिक रज का स्पर्श हुआ था तब वह काँप गयी थी—उसकी शुचिता सिहर गयी थी, पर

पश्चात् वह सामान्य नारी के रूप में परिणित होकर जड़ बन गयी आज अलौकिक पदरज का स्पर्श पाते ही सहसा शिला में कम्पन हुआ—उसका अपावनभाव, काय-कलुष थर्रा गया, पश्चात् शिला का रूप विलीन होकर नारी रूप प्रकट हुआ—अर्थात् कर्कशता—अमर्यादित साहस चूर-चूर हो गया और कोमल खिल उठी पश्चात् पुनः अहल्या भाव को-निर्दोष भाव को प्राप्त कर कृतार्थ हो गयी—

शिलाकम्पं धत्ते शिव शिव वियुङ्क्ते कठिनताम्,
अहो नारीच्छायामयति वनितारूपमयते ।
वदत्येवं रामे विकसितमुखी वल्कलमुर-
स्थलेघृत्वा बध्वा कचभरमुदस्थाद् ऋषिवधूः ।।

प्रभु के पादस्पर्श से अहल्या का जो रूप सामने आया, वह विग्रहवान् तपःपुञ्ज था, वह नारी के रूप में परिणित हुई पर तपस्विनी के रूप में; ऋषिपत्नी के रूप में; अतः वह विकसित-वदना वल्कलाम्बरधारिणी थी, केशराशि को संयत कर रखा था उसने ।

इस प्रसङ्ग पर आचार्यों का चरण-चिन्तन भी हृदय-स्पर्शी है । वे मानते हैं, जिसका चित्त कोमल है, वह सन्त है, परोपकार-निरत साधु हैं अथवा जो प्रभु की अर्चा में चतुर हैं वह उपासक है और जिसकी क्रियाएं शुभ हैं वह क्रियावान् कर्म का मर्म जानता है । यही तीन स्थितियाँ हैं जिनमें स्थित प्राणी प्रभु की कृपा का पात्र बनता है । पर प्रभु की अहैतुकी कृपा का मार्ग विलक्षण है । वे कहते हैं—

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत् कपिचमूः
गुहोऽभूच्चाण्डालस्त्रितयमपि नीतं निजपदम्
अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर! न मामुद्धरसि किम्?

अहल्या पत्थर थी—कोमलताशून्य परोपकार रहित। उस पर कृपा की। कपिसेना पशु-प्रकृति थी—उपासना शून्य!

प्रभु तरु तर कपि डार पर।

उन्हें सखा बनाया, उनके ऋणी बने। गुह निषाद चाण्डाल-तुल्य, शुभ क्रियाहीन वह भी स्नेहास्पद! आचार्य कहते हैं, इस नये मार्ग को पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हूं। ऊपर जिन लोगों के नाम बताये हैं वे केवल एक स्थिति में रहकर कृपा का स्वाद पा गये मैं तो चित्त से पाषाण हूं, अर्चादि करने में पशु और अपनी अशुभ क्रियाओं के कारण चाण्डाल हूं हे रघुवर! मेरे लिए कृपा में विलम्ब क्यों है?

यह कार्पण्यभावना भक्त को ऊपर उठाती है। अहल्या मानती है—मेरे हजारों वर्षों का तप मुझे शुद्ध न कर सका पर प्रभु के चरणों का क्षण-भर का सान्निध्य, मेरे उद्धार का कारण बना अतः तपकी अपेक्षा चरणों की शरण ही लूंगी—

पद पदम परागा रसु अनुरागा-मम मन मधुप करे पाना।

प्रभु कृपा के विविध रूप

इस स्थल पर प्रभु की कृपाओं का अद्भुत संगम है, प्रभु के प्रत्येक अंग से कृपा बरसती है। कभी उसका दर्शन—

श्रीमुख से होता है—'वदन मयंक तापत्रयमोचन कभी प्रभु का कर-कमल कृपा का दान बाँटता है—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिन्धु रघुवीर ।

यह कार्य कभी श्रीहरि की दृष्टि करती है—

देखी राम सकल कपि सेना ।
चितइ कृपाकरि राजिन नैना ॥

तो कभी वाणी के द्वारा कृपावर्षण ।

गगन गिरा गम्भीर भइ हरन सोक सन्देह ।

अथवा— **माँगु माँगु वर भै नभवानी ।**
परम गम्भीर कृपामृत सानी ॥

और कभी वह कृपा सन्त के द्वारा होती है—

जब द्रवहिं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये ।

अहल्या प्रसंग में संगम हुआ है इन लोकोत्तर कृपाओं का । गोस्वामी जी कहते हैं—**'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता ।'** कृपामूर्ति सन्त विश्वामित्र प्रभु को स्वयं ला रहे हैं, यह सन्त कृपा है । 'पूछा मुनिहि शिला प्रभु देखी' प्रभु ने शिला को देखा, यह दृष्टि-कृपा । 'पूछा मुनिहि' मुनीश्वर से जिज्ञासा करते हैं, यह वाणी की कृपा । ऋषि को अहल्या की ओर अभिमुख करने में स्पष्ट ही अंगुल्या निर्देश है—यह कर-कमल की कृपा और चरण तो प्रभु को चलने की प्रेरणा देते हुए यहाँ तक लाये ही हैं और अन्त में चरणरेणु की कृपा—

चरण कमल रज चाहती ।

सन्त-कृपा न हो तो, तो प्रभु आते कैसे ? दृष्टि - कृपा न होती तो प्रश्न का विषय कैसे बनती ? वाणी की कृपा न होती तो--विश्वामित्र की वाणी के द्वारा परिचय कैसे मिलता ?

कारन रहित कृपालु

श्री प्रभु अकारण करुण - करुणावरुणालय हैं। वे प्राणी के गुण-विशेष पर रीझ कर कृपा परवश नहीं होते और न भक्त से सेवा का मूल्य लेकर कृपा करते हैं। वे तो आप्तकाम पूर्ण - काम हैं। फिर भी हम देखते हैं कि कोई विरले ही करुणा के पात्र बन पाते हैं शेष तो जीवन का भार ढोते हैं। ऐसा क्यों है ? क्यों कुछ प्रभु की कृपा के पात्र हैं और कुछ पात्र हैं कोप के ? अकृपा के प्रतीक ! वस्तुतः यह कोई बहुत जटिल बात नहीं है क्योंकि प्रभु हैं केवल कल्याण प्रद कल्पवृक्ष, कल्पवृक्ष किसी से कुछ लेकर उसकी कामना पूरी नहीं करता। उसकी दृष्टि में योग्य-अयोग्य, जाति, वर्ण का वैषम्य साधन पद्धति की भिन्नता का कोई मूल्य नहीं। वह तो समीप जाने पर याचक की याचना मात्र से काम-पूरक बन जाता है। प्रभु का स्वभाव भी ऐसा ही है।

देउ देवतरु सरिस सुभाऊ ।
सनमुख विमुख न काहुहि काहू ।।

जाइ निकट पहिचान तरु, छाह समन सब सोच ।
मागत अभिमत पाथ जग, राव रंक भल पोच ।।

कृपा-पल्लवित पुष्पित फलित प्रभु प्रतीक्षा कर रहा है आतुर है। कृपा की कामना करने वाला समीप तो जाय ! कोई कल्प-वृक्ष के समीप जाता है, कृतार्थ होता है, नहीं जाता है कामना की पूर्ति नहीं होती है। पक्षपात का प्रश्न कहाँ ? सूर्य का प्रकाश, विश्व से कुछ कामना करके प्रकाश नहीं देता, वदले में कुछ चाहता नहीं। वह तो अकारण करुणा करता है, पर यदि कोई आँखों पर पट्टी बाँध ले, गहन गुहा में प्रविष्ट हो जाय तो उसे प्रकाश कैसे मिलेगा ? प्रकाश पाने की कामना तो हो। अथवा उलूक वृत्ति से अन्धकार को ही प्रकाश मान कर बैठ गया है तो कैसे काम चलेगा ? प्रभु की कृपा घटा मन्द मधुर ध्वनि में गर्ज कर अमृत का वर्षण कर रही है, पर कोई अभागा भाग कर भोग भवन में जा छिपे भय वस, तो उसे करुणा-कादम्बिनी का-प्राणरस कैसे मिलेगा ? इसमें उस घनश्याम की करुणा का क्या दोष ? वर्षा काल की श्यामल मेघ-मालाएं, वसुन्धरा के सन्तप्त वक्ष पर शीतल सुखद अतुल जलराशि उड़ेल देती हैं। जलदान में उर्वर का, सम विषम का, निम्न-उन्नत का, सुवर्ण-कुवर्ण का विचार नहीं किया जाता; फिर भी उन्नत भू-भाग, अपने अन्तराल को सजलता नहीं दे पाता, पर उर में गहराई रखने वाला भू-प्रदेश भर लेता बाहों में—

सिमिट सिमिट जल भरहिं तलाबा।

गिरितुल्य जो सीना ताने, सिर उठाये खड़ा है वह सूखा रह जाता है क्या यह उसकी करुणा का दोष है ? नहीं ! क्या पक्ष-पात है ? ऐसा भी नहीं।

आजकल लोग प्रभु के कृपा मार्ग का गद्‌गद् कण्ठ से बखान करते हैं और वे समझते हैं अहल्या मार्ग बड़ा सरल है पत्थर बन-कर पड़े रहो। प्रभु स्वयं खोजता चला आयेगा। चरण से छू देगा और हम, हमारी आत्मा, परम पति से जा मिलेगी। अनन्त काल का बिछुड़ा प्राणवल्लभ अपने चरणों का पराग पान देकर धन्य-धन्य करेगा। हमारा कर्त्तव्य कुछ नहीं, हमें सब कुछ मिल जायगा। उदाहरण बहुत है। अहल्योद्धार के पश्चात् गोस्वामिपाद कहते हैं—

दोहा— **अस प्रभु दीन बन्धु हरि कारन रहित कृपालु।**

'कारण रहित कृपालु' पढ़ कर पलकों का पर्दा डाल लेते हैं अगली अर्धाली पर। वे खण्डित सत्य को ही अखण्ड तथ्य के रूप में मान कर मुदित हो जाते हैं। वे यह नहीं देखना चाहते कि 'कारण रहित कृपालु, कहने वाला करुणावतार कविशेखर आगे क्या कह रहा है, वह प्रेरित कर रहा है—

तुलसिदास सठ ताहि भजु छांड़ि कपट जंजाल।

कपट-जाल छोड़कर भजन करने की प्रेरणा क्यों? कारण रहित कृपालु की अकारण करुणा पर अविश्वास है यह! कुछ लोग मंजिल तक बोझा ढोते हैं, वहाँ पहुंच कर हलके हो जाते हैं—

तापस तप फल पाइ जिमि सुखी सिराने नेम।

पर यह तो मंजिल पर पहुंच कर बोझा ढोने वाली बात हुई। क्यों कह दी गोस्वामीजी ने भजन-साधन वाली बात? कह देते बस अहल्या की तरह लेटे रहो पत्थर हो जाओ। पर उन्होंने ऐसा नहीं कहा। लोग तो बड़े चतुर होते हैं। ये भगवान् की ओर पत्थर बने रहना चाहते हैं पर जगत की ओर गरुड़-गति से उड़ान भरते हैं। गरुड़ जी अपनी पीठ पर प्रभु को अभीष्ट स्थान पर ले

जाते हैं। चतुर लोग भी एक ओर तो पत्थर बनते हैं दूसरी ओर भगवान् को भी उड़ाये-उड़ाये घूमना चाहते हैं। यह स्थिति कैसे चलेगी ?

अहल्या की ओर देखिये। ऋषि प्रवर विश्वामित्र ने परिचय देते हुए कहा—

दोहा— **गौतम नारी श्रापवस, उपल देह धरि धीर।**
चरन कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुवीर।।

शापग्रस्ता गौतम पत्नी का यह परिचय पूर्ण एवं महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं—'उपल देह'—अहल्या का कलेवर उपल का है—पत्थर का है पर हृदय ?—'चरन कमल रज चाहती'—चाह पत्थर में नहीं हृदय में होती है। अहल्या का शरीर पत्थर-सा कठोर और हृदय है मृदुल। हम लोग इसका उल्टा करते हैं। शरीर से, वाणी से, औपचारिक शिष्टाचार से तो हम लोग कोमल हैं, पर हृदय से होते हैं कठोर और यही ज्वलन्त मुखरित सत्य है कि जिसे चाह दुनियाँ की है उसका हृदय कठोर, शरीर कायर, जिसे प्रभु की चाह है वह कोमल हृदय पर सहनशील, पत्थर-सा। अहल्या का मार्ग जितना सरल समझा जाता है उतना सरल नहीं है। मुर्दे का स्वांग करना सरल है निर्वाह कठिन है। अहल्या तो बड़ी सौभाग्यशालिनी है। उसकी स्थिति, दिव्य भूमि मिथिला के मार्ग में है। यह वह मार्ग है जिस पर प्रभु चलते हैं, जिस पर चलते समय प्रभु का मुख, प्रभु के चरणों का सञ्चरण, परा प्रेमा-महाभावरूपा मूर्तिमती भक्ति की ओर है। उस मार्ग पर पड़े रहना सामान्य घटना नहीं है। अहल्या की आस्था अगाध है, आस्थाहीन प्राणी प्रभु की अकारण कृपा की किरणों का प्रकाश नहीं पा सकता।

विनती प्रभु मोरी

अहल्या के अभिमुख, प्राण प्रिय अतिथि, प्राण प्रिय पाहुन खड़े हैं—जैसे सारे विश्व का सौन्दर्य, सोलह वर्ष का बालक बनकर सामने खड़ा हो गया, जैसे किसी दिव्य लोक का लोकोत्तर, कल्पवृक्ष, कमनीय कामनाओं का पूरक स्वयं चलकर मेरे अभिमुख मुसकान के पुष्प बखेर रहा है। अवाक् थी अहल्या! दुनियाँ का मेहमान दो दिन का मान्य होता है पर यह पाहुन तो पथिक है, चले जाने को खड़ा है। संसार में किसी के द्वार पर निशीथ काल में कोई अतिथि पहुंचता है और द्वार बन्द है तो लौट जाता है या एकआधबार द्वार पर थपकी देकर आवाज लगा देता है और गृहस्वामी न उठे तो चला जाता है। अहल्या सोचती है—मेरा छोटा-सा पाहुना बड़ा अनोखा है। मेरे जीवन के द्वार पर दुर्भाग्य के शिला-कर्कश फाटक लगे थे, उनमें कुटिल कर्मों का भारी ताला लगा था और मैं स्वयं अनेक युगों से मोहमयी शैय्या पर सोयी पड़ी थी, पर इस अद्भुत अतिथि ने मेरे दुर्भाग्य कपाट को खोल डाला, मेरे ऊपर जादूभरी चरणरेणु डालकर, जगा दिया मुझे मोह की चादर खींचकर! कैसे करूं स्वागत इस प्यारे पाहुने का? चाहती तो हूं कि पलकों के अन्दर पुतलियों का पलंग बिछाकर, प्राणों की फेनोज्ज्वल शैय्या पर इन्हें सुलाकर विश्राम दूं।

मेरे पास है, मेरा शरीर, मेरी वाणी, मेरा मन। कौन करे स्वागत? मन प्रेमाकुल है, शरीर रोमाञ्चित है, वाणी के पास शब्द नहीं हैं—

अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा,
मुख नहिं आवे बचन कही।

हाथों ने कहा—हम रोकते हैं—

अतिसय बड़ भागी चरनन लागी।

आँखों ने कहा—चरण हम पखारते हैं—

—जुगल नयन जलधार बही।

चरणों को छूते ही अहल्या की समस्या हल हो गयी। सोचने लगी—शिव ने इन्हीं चरणों का चरणोदक शिरोधार्य किया हैं, उनमें योग्यता है, अधिकारी हैं वे, विकार हीन हैं, कामजयी जो ठहरे ! पर मैं तो काम पराजिता थी, कामजयी को केवल चरणोदक, वह भी प्रत्यक्ष नहीं ब्रह्मा के द्वारा उपलब्ध। पर मुझ काम पराजिता पर प्रत्यक्ष चरणों का संस्पर्श ! कितना भाग्य है मेरा।

श्रीहरि के चरणों के रेणु-कणों को विनम्र भक्त अपने मस्तक पर धारण करते हैं, यही विधान है, यही औचित्य है पर जो स्वामी स्वयं किसी के मस्तक पर अपनी चरण रज डाले तो उसकी शील की रक्षा कैसे होगी ? चिन्ता नहीं की इसकी। वे विज्ञ हैं, जानते हैं, बीमार मूर्छित है, ऐसी दशा में दवा स्वयं डालनी पड़ती है, इस कृपा का क्या पारावार। मेरी तो मति भूल रही है क्या विनय करूं—

विनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी।

जीवन-दर्शन :-

अहल्या के प्रसंग में जीवन के महत्वपूर्ण चार तत्वों का समन्वय हुआ है। वे तत्व हैं—नीति, प्रीति, परमार्थ एवं स्वार्थ। इन चारों का समन्वयी सम्यक् रूप तो श्री रघुनाथ जी जानते हैं—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जानि जथारथ।।

यथार्थ ज्ञान की कसौटी व्यवहार है। व्यवहार में उसका अवतरण, उसका प्रयोग किस कुशलता के साथ होता है, यह देखा जाता है। सर्व प्रथम तो इन चार बातों को हम अहल्या के पक्ष से देखें। श्री रघुनाथ की दृष्टि में अहल्या का नीति-पक्ष—नैतिक मूल्य क्या हैं। अहल्या पति वियुक्ता है। इस दशा में भारतीय नारी का क्या रूप होना चाहिये। शास्त्र में इसकी व्यवस्था है, वह पर पुरुष से बातें नहीं करतीं, साज-श्रृंगार-हीन वेष, विश्व के प्रति कठोरता की प्रतीक बन कर एक स्थान पर रहती है। न वह किसी पर दृष्टि डालती है और न वह ऐसी स्थिति में रहती हैं कि दुनियाँ की निगाहें उस ओर आकृष्ट हों। पुरुष वर्ग ही क्यों विश्व की कोई भी रमणीय वस्तु उसे लुभा नहीं सकती। उसके लिये विश्व सूना है—

खग मृग जीव जन्तु कोउ नाहीं।

यह स्थिति है उसकी। जीवन में भूल मानव से होती है, पर उससे सबक लेना, ऊपर चढ़ने के लिये उस भूल को सोपान बनाना ही तो मानवता है। मानव जीवन की यह सर्व मान्य नीति है। प्रभु बड़े सुजान हैं। वे जानते हैं, जिसने जग से आँखें मोड़ ली है, स्वयं विश्व की दृष्टि में अदृष्ट है, वह प्राणी मेरी दृष्टि का पात्र है अतः 'सिला प्रभु देखी' में 'प्रभु' शब्द का प्रयोग है। इस नीति को प्रभु के सिवा सही रूप में कौन जान सकता है।

प्रीत पक्ष पर भी दृष्टि डाल लें। रागात्मक भाव प्रत्येक प्राणी को मिला है। प्रीत उसका उत्कृष्ट रूप है। अहल्या के उस रागात्मक धरातल पर इन्द्र ने कुतूहल बस अपना पैर रक्खा था तो वह पत्थर बन गयी, राग का स्रोत सूख गया। पश्चात् श्रीराम आये, उनके चरण पड़े तो प्रीति का झरना पुनः बह निकला—

जुगल नयन जलधार बहीं।

सुग्रीव भी बालि भय से प्रीतिहीन हो गया था। उसके जीवन में प्रीति का पादप रोपा था प्रभु ने—

जोरी प्रीति दृढ़ाइ।

प्रभु के चरणों में पुनः-पुनः प्रणत हुआ था वह उसके लोचन से भी प्रीतजल छलक उठा था—

कह सुग्रीव नयन भरिबारी।

पर बाद में उसकी प्रीत का प्रवाह दूसरी ओर बह निकला था। उसका मन भ्रमर किसी अन्य कली का रस लेने लगा था। अहल्या सावधान है, उसने अपने प्रीति-प्रवाह से प्रभु के पाद-पद्म पखारे। या यों कहना अधिक संगत होगा कि उसने प्रीति-पात्र हृदय को तथा प्रीति प्रवाह के वाहक लोचनों को धो डाला और तब उसने प्रीति के सरोवर में प्रभु के चरणों को कमल बना लिया और मनको बना दिया रसग्राही भ्रमर—

पद पदम परागा रस अनुरागा,
मम मन मधुप करइ पाना।

और यही है अहल्या का परमार्थ पक्ष परमार्थ की परिभाषा भी यही है ।

सखा परम परमारथ एहू ।
मन क्रम वचन राम पद नेहू ।।

लोक दृष्टि से नारी का सबसे बड़ा स्वार्थ है पति की उपलब्धि । हम देखते हैं, सुजान श्रीरघुवीर इस भावना का आदर करते हैं—

गई पतिलोक अनन्द भरी ।

और सच पुछिये तो लोक में नीति-प्रीति का स्वार्थ-परमार्थ का समन्वय सर्वथा जटिल है पर श्रीराघव की सुन्दर नीति यह है कि इनमें अभूत पूर्व सामञ्जस्य स्थापित कर देते हैं, यही तो उनका यथार्थ ज्ञान है ।

अब इन लोक मङ्गलकारी चार तत्त्वों को प्रभु के पक्ष से देखें । श्री रामभद्र का प्रीतिपक्ष तो परम मधुर है । जिस अहल्या की ओर कोई भी तपस्वी ऋषि-मुनि देखना पसन्द नहीं करता फिर उसके विषय की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं । पर प्रभु तो पीड़ित प्रताड़ित प्राणी के प्रति प्रतिपल प्रेमाकुल रहते हैं । किसी पर वे दया बड़े बनकर नहीं करते, वे करते हैं प्रेम-पराधीन होकर । गाय अपने वत्स को दूध इसलिए नहीं पिलाती कि वह दया का पात्र है, वह तो इतनी वत्सला होती है कि बिना दूध पिलाये उससे रहा नहीं जाता । इसी से प्रभु का एक विशेषण है—भक्तवत्सल । यही कारण है कि वे ऋषि के न कहने पर भी उसके विषय में कहते हैं,

ऋषि के उस ओर न देखने पर भी देखते हैं, यह है प्रभु का प्रीति पक्ष।

उनका नैतिक पक्ष भी विचित्र है, अहल्या का उद्धार हुआ, उसे जो कुछ पाना था वह सब पा लिया कृत-कृत्य हो गयी पर प्रभु के सामने एक नैतिक प्रश्न खड़ा हो गया। वे सोचते हैं, मैं मर्यादा पुरुषोत्तम बनकर आया हूं, श्रुतिसेतु संरक्षण का गुरुतर कार्य अपनाया है, क्षत्रियकुलोत्पन्न होकर एक नारी का वह भी एक ऋषि पत्नी का, चरण से स्पर्श, क्या मैं प्रायश्चित का पात्र नहीं हुआ ? प्रभु कुछ अन्य मनस्क हो गये।

मानस के पुराने टीकाकारों ने कहा है, श्रीराम अवध से चले तो प्रसन्न होकर—

हरषि चले मुनि भय हरन।

यज्ञ-रक्षा के अनन्तर विश्वामित्र जी आश्रम से मिथिला की ओर चले तो हर्षित होकर—

'हरषि चले मुनिवर के साथा'

पर अहल्या आश्रम से चलते समय हर्ष का पता नहीं है केवल—

'चले राम लछिमन मुनि संगा'

कहा गया है। और इसका कारण यह है कि प्रभु के मन में गौतम पत्नी को चरण से छूने का पश्चात्ताप है, हर्षित कैसे होते ? इसका प्रमाण विनय में है—

सिला साप-सन्ताप विगत, भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरषि हिय, चरन छुये पछिताउ।।

प्रभु हर्षित कब हुए ? जब प्रायश्चित्त कर डाला। प्रायश्चित्त भी कहाँ किया ? चरण-नख-निर्गता गंगा में—

गये जहाँ जग पावनि गंगा।'

और स्नान किया दान दिया तीर्थ का माहात्म्य सुना—

गाधि सूनु सब कथा सुनाई, जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।
तब प्रभु ऋषिन्ह समेत नहाए, विविध दान महिदेवन पाये॥

इतना सब करने के पश्चात् प्रभू के श्रीमुख पर प्रसन्नता विखरी, हृदय हर्ष से भर उठा—

हरिष चले मुनि वृन्द सहाया'

यह हैं प्रभु का नैतिक पक्ष। परमार्थ पक्ष के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रभु का परमार्थ यही है, उनके अवतरण का सर्व प्रमुख कारण यही हैं कि बिछुड़े प्राणी प्रभु के उन्मुख हों, उन्हें सच्चा मुख प्राप्त हो। अहल्या को अपनाकर उसकी सिद्धि हो जाती है। परमार्थ से अविरुद्ध ही श्रीहरिका स्वार्थ है, पषाण की अहल्या तर गयी, भवसागर पर तैर कर पार हो गयी फिर जो नाव का आश्रय लिए हुए हैं उनके पार होने में क्या सन्देह है। हमें लगता है, विश्व के पाषाणो में चेनना दौड़ गयी, उनमें कल्पना शक्ति काम करने लगी। वे सोचने लगे—'आज तक अनेक अवतार हुए हैं, पर पत्थरों की सुध लेने वाला कोई नहीं हुआ। अब हम लोगों का कर्तव्य है कि इनके चरणों का आश्रय लें, इनके भक्तों के चरणों तले बिछ कर कृतकृत्य हों—

रामसदा सेवक रुचि राखी।

प्रभु ने उनकी इस इच्छा को साकार किया—समुद्र बन्धन पर। पत्थर बिछ गये प्रभु के चरणों तले। उनके भक्तों के चरणों तले। सेतु बंध गया, प्रभु का कार्य सिद्ध हो गया। परमात्मा का स्वार्थ सिद्ध किया पाषाणों ने और बड़ाई दी उन्हें कि भगवान सबको पार करते हैं पर आज तो बूड़ने वाले पत्थर परमात्मा को पार कर रहे हैं।

क्या मूर्ति पूजा वेद विहित नहीं

सन् १९८२, ५ सितम्बर को दैनिक 'स्वतंत्र भारत रविवासरीय परिशिष्ट में डा० कंचन देवी का एक लघु लेख प्रकाशित हुआ था—"मूर्ति पूजा वेद विहित नहीं।" इस कथन की पुष्टि में उन्होंने शु० यजुर्वेद के दो मन्त्रों को उद्धृत किया है। एक ४०वें अध्याय का ९वां मन्त्र, दूसरा है ३२वें अध्याय का तृतीय मन्त्र। प्रथम मन्त्र अशुद्ध छपा है शायद प्रेस की भूल हो। उसका शुद्ध रूप निम्नस्थ है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूति मुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।९।

वस्तुतः मूर्ति के खण्डन-मण्डन से इस मन्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाष्यकार 'उवट' ने मन्त्रगत 'असम्भूति' एवं 'सम्भूति' का आशय व्यक्त करते हुए कहा है—इस मन्त्र में लोकायतिकों की निन्दा की गयी है। वे लोग मानते हैं कि चेतन जीवशक्ति जल के बुदबुदे के समान अनित्य है। शरीरगत चेतन, पञ्चभूतों के संयोग से वैसे ही उत्पन्न हो जाती है जैसे शराब के लिये सड़ाये गये पदार्थ में चेतन कीड़े। मरने के बाद पुनः सम्भवन-सम्भूति नहीं होती क्योंकि चेतन नाम की कोई नित्य वस्तु नहीं है, शरीर छूटने के बाद स्वतः मुक्ति हो जाती है, यह है असम्भूति की उपासना। ऐसे लोग घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इससे भी अधिक अन्धकार में वे गिरते हैं जो 'सम्भूति' में रत हैं। अर्थात् जीवात्मा का पुनः-

पुनः सम्भवन मानते हैं। वह जन्म लेता है किन्तु वह नित्य हैं। उसमें किसी कर्म से, किसी यम-नियम से न नयापन आता है, न उसका संस्कार होता है अन्यथा वह नित्य एक रस नहीं रहेगा। ऐसा मानकर जो कर्म विमुख, साधना-शून्य सम्भूति के उपासक हैं, उनकी निन्दा की गयी है। स्पष्ट है, इस व्याख्या का मूर्तिपूजा से कोई मतलब नहीं।

शु० यजु० के दूसरे सुप्रसिद्ध भाष्यकार हैं 'महीधर'। उन्होंने भी इसी अर्थ को प्राथमिकता प्रदान की है, इसके साथ उन्होंने एक अन्य अर्थ भी दिया है। वे कहते हैं—'अस्या ऋचोऽर्थान्तर मुच्यते "इस ऋचा का अन्य अर्थ भी कहा जाता है।" सम्भूतिका अर्थ है—कार्योत्पत्ति और असम्भूति का अर्थ है अव्याकृत कारण प्रकृति। वह अदर्शनात्मक बीज रूपा है। जो उसके उपासक हैं, वे वैसे ही अदर्शन रूप संसार में प्रवेश करते हैं। जो सम्भूति-कार्य ब्रह्म हिरण्य गर्भ की उपासना में रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धेरे में गिरते हैं।

वास्तव में 'असम्भूति' और सम्भूति को लेकर यहाँ तीन मन्त्र हैं। उनमें समत्वयात्मक पद्धति अपनायी गयी है। प्रथम मन्त्र में 'असम्भूति' एवं सम्भूति की पृथक-पृथक खण्डोपासना की निन्दा है, उसका विरोध है। द्वितीय मन्त्र में कहा—'असम्भूति' का फल एवं सम्भूति का फल अलग-अलग है। दो भिन्न भावनाओं का समन्वय करते हुए तृतीय मन्त्र में ऋषि कहता है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृत मश्नुते। ११।

विशिष्ट अवसरों पर राष्ट्र के शासक उन्हें फूल-मालाएं पहनाते हैं, सलामी देते हैं। अन्य राष्ट्रों के अधिकारी भी वहाँ जाने पर उन्हें माल्यार्पण करते हैं। अपने देश में भी महात्मा गांधी तथा अन्य राष्ट्रभक्त महान् नेताओं की प्रतिमाएं हैं।

उनकी स्मृति को सजीव रखने के लिये उनके श्रेष्ठ कार्यों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिये, जन-जन की रगों में प्रेरणा का शोणित प्रवाहित करने के लिए तथा महान् पुरुषों के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति प्रदान करने के हेतु मूर्ति स्थापना आवश्यक भी है। जिनका नाम नहीं, यश नहीं, महान् कार्य नहीं, ऐसे अभागे लोगों की मूर्तियाँ कौन लगाता है? क्या मन्त्र दृष्टा ऋषि, यह कहना चाहता है कि वह परम पुरुष निकम्मा है, उसकी मूर्ति मत लगाओ उसकी प्रतिमा नहीं हो सकती? यह वेद का अर्थ है या अनर्थ?

वस्तुतः 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'—केवल इतना-सा-अधूरा मंत्र बोल, अधूरा अर्थ करने वाला, वेद के विषय में अधिक अहंमन्य एक वर्ग की एकाङ्गी मान्यता का यह पिष्टपेषण, बहुत दिनों से आँख-कान बन्द कर आग्रह के मार्ग पर चला आ रहा है, इसमें किसी एक को दोष देना व्यर्थ है।

अभी तक हमने मन्त्र के पूर्वार्द्ध का विवेचन किया, अब उसके उत्तरार्द्ध पर भी विचार कर लिया जाय। उत्तरार्द्ध को पुनः सामने रख लें—

हिरण्यगर्भ इत्येष मा माहिंसी दित्येषा यस्मान्नजात इत्येष'

पूर्वार्द्ध में कहा गया—'जिसका यश महान् है उसकी तुलना का कोई नहीं' उसका वह यश, वह कीर्ति क्यों और कैसे है, इसका

आख्यान है उत्तरार्द्ध में। इसमें संकेत से कई मन्त्र-सुमनों को संजोया है। प्रथम प्रतीक से २५वें अध्याय के १० से १३ तक की चार ऋचाओं का एक अनुवाक, १२वें अध्याय की १०२वीं ऋचा और ८वें अध्याय के ३६, ३७ दो मन्त्रों को संकेतित किया गया है, सात मन्त्रों का गुच्छा एक पंक्ति में गुंथा है। पढ़े-लिखे लोग उन्हें देख सकते हैं।

उन सबमें कहा गया है—वह अद्वितीय शक्तिशाली है, विश्व सत्ता का का एकमात्र अधीश है, उद्भुत महिमा से मण्डित प्रकृति उसकी विभूति है, इत्यादि। ईश्वर का यह असाधारण गौरव मन्त्र संहिताओं में उपनिषदों, में पग-पग पर वर्णित है।

सच बात तो यह है कि वेदमन्त्रों के द्वारा कोई भी विद्वान् आज तक यह सिद्ध नहीं कर सका है और न कर ही सकता है कि उनमें मूर्तिपूजा का निषेध है; क्योंकि वेदों का प्रधान विषय यज्ञ विधान है। यज्ञ शब्द 'यज् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—'देवपूजा, संगतिकरण और दान'। इनमें 'देवपूजन' प्रधान है। एक ऐसा सात्त्विक युग था जब यज्ञों में देवगण प्रत्यक्ष भाग ग्रहण करते थे। उस समय उन देवों का यज्ञस्थल में दिग् भाग, स्थान एवं कुश आदि प्रतीक निश्चित रहते थे, जहाँ उन्हें पूजन के साथ हविर्भाग अर्पित किया जाता था। आज भी उन्हीं प्रतीकों के रूप में देव की पूजा का विधान है।

यज्ञ का मतलब यह कदापि नहीं है कि चाहे जहाँ, चाहे जैसे और चाहे जिसके द्वारा तथा चाहे जिस हालत में आग जलाकर स्वाहा कर दी जाय। यज्ञ की विशिष्ट प्रक्रिया है, उसे बिना जाने मन्त्रों का अर्थ करना अनर्थ करना है।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'जो पुरुष सम्भूति और विनाश (असम्भूति) इन दोनों को सहभाव से जानता है वह विनाश से मृत्यु को पार कर 'सम्भूति' के द्वारा अमृत की उपलब्धि करता है।'

इस मन्त्र का भाष्यकारों ने अर्थ किया है—विनाशशील शरीर से साधना करके मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है, 'सम्भूति' अर्थात् सम्भवनशील जीवात्मा के स्वरूप ज्ञान से अमृत की उपलब्धि होती हैं।

इस मूल मन्त्र में ही 'उपासना' का अर्थ 'ज्ञान' बताया है—'वेद' क्रिया के द्वारा। असम्भूति का पर्याय दिया गया है विनाश, अर्थात् विनाशशील शरीर। स्पष्ट है, ईशावास्योपनिषद् के इन मन्त्रों को निष्पक्ष भाव से पढ़ने पर कोई भी विद्वान–मूर्तिपूजा का अर्थ नहीं लेगा। यदि किसी का यह दुराग्रह ही है कि 'सम्भूति' का अर्थ मूर्तिपूजा ही है तब उसे विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि—'सम्भूत्याऽमृत मश्नुते' सम्भूति से, मूर्तिपूजा से ही अमृत प्राप्त होता है'।

इस प्रकार प्रथम मन्त्र का अर्थ मूर्तिपूजा के अर्थ में खींचतान से भी संगत नहीं होता।

अब हम मूर्तिपूजा के निषेध में उद्धृत द्वितीय मन्त्र पर भी विचार करेंगे।

जैसे प्रथम मन्त्र का आशय एवं शब्द मर्यादा दोनों दृष्टियों से मूर्तिपूजा से असम्बद्ध है, उसी प्रकार शु० यजु० ३२ वें अध्याय का तृतीय मन्त्र भी है। उसमें 'प्रतिमा' शब्द को देखकर उसका मूर्ति अर्थ करना सर्वथा अविचारित है। चारों मन्त्र संहिताओं में मूर्ति

के अर्थ में 'प्रतिमा शब्द का प्रयोग है ही नहीं । ३२वें अध्याय में जिन मंत्रों का उल्लेख है, उनका विनियोग, एक विशिष्ट यज्ञ 'आप्तोर्याम' के सप्तम दिवस के 'सर्वहोम' में होता है । उनमें से तृतीय मन्त्र का पूर्वार्द्ध प्रमाण में उद्धृत किया है । पूरा मन्त्र निम्नस्थ है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः
हिरण्यगर्भ इत्येष मामाहिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः । ३

इस मन्त्र के पूर्व के दो मन्त्रों में जिस परम पुरुष की महिमा का गान है—उसके लिए प्रथम मन्त्र में कहा गया—

"अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आप् और प्रजापति के रूप में वही परम पुरुष है"—(शु० य० ३२, १)

द्वितीय मन्त्र में उसके इस गौरव का कारण बताया गया—काल के निमेष, त्रुटि, काष्ठादि सम्पूर्ण अवयव एवं विद्युत्, पर्जन्यादि उस परम पुरुष से उत्पन्न हुए हैं । सबके जनक इस पुरुष को ऊपर, तिरछे एवं मध्य में कहीं कोई नहीं पकड़ सकता" । इस प्रकार देश, काल तथा वस्तु—तीनों से ऊपर बताकर तृतीय मन्त्र में कहा है—"जिसका सुप्रसिद्ध महान् यश है, उसकी कोई प्रतिमा - प्रतिमान, उपमा नहीं है" ।

यदि यहाँ मन्त्रगत प्रतिमा का अर्थ 'मूर्ति' करेंगे तो सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही असंगत हो जायगा । क्योंकि जिसकी कीर्ति महान् होती है, जिसका नाम बिख्यात होता है, संसार में मूर्तियाँ उसी की स्थापित की जाती हैं । पूजा के प्रकार में भेद हो सकता है, यह भिन्न बात है, पर पूजा उन्हीं की होती है । नास्तिक से नास्तिक देश भी अपने यशस्वी राष्ट्र पुरुषों की मूर्तियाँ स्थापित करते हैं ।

विशिष्ट अवसरों पर राष्ट्र के शासक उन्हें फूल-मालाएं पहनाते हैं, सलामी देते हैं। अन्य राष्ट्रों के अधिकारी भी वहाँ जाने पर उन्हें माल्यार्पण करते हैं। अपने देश में भी महात्मा गाँधी तथा अन्य राष्ट्रभक्त महान् नेताओं की प्रतिमाएँ हैं।

उनकी स्मृति को सजीव रखने के लिये उनके श्रेष्ठ कार्यों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिये, जन-जन की रगों में प्रेरणा का शोणित प्रवाहित करने के लिए तथा महान् पुरुषों के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति प्रदान करने के हेतु मूर्ति स्थापना आवश्यक भी है। जिनका नाम नहीं, यश नहीं, महान् कार्य नहीं, ऐसे अभागे लोगों की मूर्तियाँ कौन लगाता है ? क्या मन्त्र दृष्टा ऋषि, यह कहना चाहता है कि वह परम पुरुष निकम्मा है, उसकी मूर्ति मत लगाओ उसकी प्रतिमा नहीं हो सकती ? यह वेद का अर्थ है या अनर्थ ?

वस्तुतः 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'—केवल इतना-सा-अधूरा मंत्र बोल, अधूरा अर्थ करने वाला, वेद के विषय में अधिक अहंमन्य एक वर्ग की एकाङ्गी मान्यता का यह पिष्टपेषण, बहुत दिनों से आँख-कान बन्द कर आग्रह के मार्ग पर चला आ रहा है, इसमें किसी एक को दोष देना व्यर्थ है।

अभी तक हमने मन्त्र के पूर्वार्द्ध का विवेचन किया, अब उसके उत्तरार्द्ध पर भी विचार कर लिया जाय। उत्तरार्द्ध को पुनः सामने रख लें—

हिरण्यगर्भ इत्येष मा माहिंसी दित्येषा यस्मान्नजात इत्येष'

पूर्वार्द्ध में कहा गया—'जिसका यश महान् है उसकी तुलना का कोई नहीं' उसका वह यश, वह कीर्ति क्यों और कैसे है, इसका

आख्यान है उत्तरार्द्ध में। इसमें संकेत से कई मन्त्र-सुमनों को संजोया है। प्रथम प्रतीक से २५वें अध्याय के १० से १३ तक की चार ऋचाओं का एक अनुवाक, १२वें अध्याय की १०२वीं ऋचा और ८वें अध्याय के ३६, ३७ दो मन्त्रों को संकेतित किया गया है, सात मन्त्रों का गुच्छा एक पंक्ति में गुंथा है। पढ़े-लिखे लोग उन्हें देख सकते हैं।

उन सबमें कहा गया है—वह अद्वितीय शक्तिशाली है, विश्व सत्ता का का एकमात्र अधीश है, उद्भुत महिमा से मण्डित प्रकृति उसकी विभूति है, इत्यादि। ईश्वर का यह असाधारण गौरव मन्त्र सहिताओं में उपनिषदों, में पग-पग पर वर्णित है।

सच बात तो यह है कि वेदमन्त्रों के द्वारा कोई भी विद्वान् आज तक यह सिद्ध नहीं कर सका है और न कर ही सकता है कि उनमें मूर्तिपूजा का निषेध है; क्योंकि वेदों का प्रधान विषय यज्ञ विधान है। यज्ञ शब्द 'यज् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—'देवपूजा, संगतिकरण और दान'। इनमें 'देवपूजन' प्रधान है। एक ऐसा सात्त्विक युग था जब यज्ञों में देवगण प्रत्यक्ष भाग ग्रहण करते थे। उस समय उन देवों का यज्ञस्थल में दिग् भाग, स्थान एवं कुश आदि प्रतीक निश्चित रहते थे, जहाँ उन्हें पूजन के साथ हविर्भाग अर्पित किया जाता था। आज भी उन्हीं प्रतीकों के रूप में देव की पूजा का विधान है।

यज्ञ का मतलब यह कदापि नहीं है कि चाहे जहाँ, चाहे जैसे और चाहे जिसके द्वारा तथा चाहे जिस हालत में आग जलाकर स्वाहा कर दी जाय। यज्ञ की विशिष्ट प्रक्रिया है, उसे बिना जाने मन्त्रों का अर्थ करना अनर्थ करना है।

यज्ञ का एक महत्त्वपूर्ण प्रधान अंग है 'अग्निचयन' इसी से मन्दिर संस्था तथा धार्मिक स्थापत्य कला का श्रीगणेश होता है। अग्निचयन का अर्थ है—कई तरह की सहस्रों मापित ईंटों से अग्नि के हेतु वेदी की रचना। इनमें श्येन या गरुड़ पक्षी के आकार की वेदी सुप्रसिद्ध है। इस वेदी पर परम पुरुष की भावना की जाती है। इस वेदी पर मनुष्याकार एक सुवर्ण मूर्ति स्थापित की जाती है। इसे 'हिरण्यमय पुरुष' (तैत्तिरीय संहिता ५।२।७) कहा है। यह सुवर्ण मूर्ति एक सोने के स्थडिल पर और यह सुवर्ण स्थण्डिल कमल पत्र पर रक्खा जाता है। हिरण्यमय पुरुष की स्थापना के समय ऋग्वेद के 'हिरण्य गर्भ' सूक्त के पठन का विधान है।

इसी प्रकार नाचिकेत अग्निचयन का आकार एक बड़े शिवलिंग-जैसा होता है। तैत्तिरीय संहिता में वर्णित 'चक्रचिति' भी शिवलिंग की हूबहू आकृति होती है। इस प्रकार का 'पूजन-विधान' तथा वेदियों के आधार से यह सिद्ध है कि बिना मूर्ति के यज्ञ-विधान संभव नहीं है।

—●—